चिकित्सा विज्ञान

प्रो. राधेश्याम शर्मा, डॉ. गोपेश मंगल, डॉ. गुन्जन गर्ग

Distribution of Marks

1.	Practical Record of 25 procedures	05 Marks
2.	Long Procedure	05 Marks
3.	Long Procedure Viva	08 Marks
4.	Short Procedure	02 Marks
5.	Viva on Short Procedure	20 Marks Total 50 Marks
6.	General Viva voce	

× × ×

अनुक्रमणिका

अध्याय-1

अध्याय-2

अध्याय-3

स्वेदन Svedana karma (Sudation Therapy) 92-135

अध्याय-4

वमन कर्म (Vamana Karma) 136-166

अध्याय-5

विरेचन (Virechana Karma) 167-193

अध्याय-6

बस्ति कर्म (Basti Karma) 194-252

अध्याय-7

नस्य कर्म (Nasya Karma) 253-270

अध्याय-8

रक्तमोक्षण (Raktamokshana) 271-291

अध्याय-9

General Knowledge of Emergency Managment of Complications 292-302

अध्याय-10

Physiotherapy 303-318

× × ×

अध्याय–1

पंचकर्म का परिचय

(Introduction of Panchkarma)

1. (a) पंचकर्म का परिचय (Introduction of Panchkarma)

आयुर्वेद के दोनों प्रयोजन स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर व्यक्ति के रोग प्रशमन, इनकी सिद्धि पंचकर्म द्वारा सम्भव है। चिकित्सा के सिद्धान्तों में सबसे महत्वपूर्ण है- 1. संशोधन, 2. संशमन, 3. निदान परिवर्तन, इन तीनों में व्याधि की पुनः उत्पत्ति न होने के कारण संशोधन का प्रथम स्थान है क्योंकि पंचकर्म के द्वारा ही रोग समूल नष्ट होते हैं। पंचकर्म के द्वारा ही प्रयोजन का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को बनाए रखने हेतु ऋतुचर्या के अनुसार पंचकर्म निर्दिष्ट है जिससे रोग उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रकुपित दोषों को शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है जिससे त्रिदोषों में साम्य स्थापित होकर आरोग्य की प्राप्ती होती है।

पंचकर्म को अष्टाग आयुर्वेद में स्थान प्राप्त नहीं है अपितु यह अष्टांग आयुर्वेद के सभी विभागों में इसकी अतीव उपयोगिता है। काय चिकित्सा के लगभग सभी रोगों में पंचकर्म निर्दिष्ट है केवल उरूस्तम्भ रोग को छोड़कर, जिससे इसकी महत्वता, गौरवता एवं उपयोगिता का बोध होता है।

पंचकर्म – कायचिकित्सा साध्य रोगों में प्रयुक्त है। परन्तु केवल काय चिकित्सा का ही अंग समझना भूल है।

आयुर्वेद की दो विशिष्ट विधा रसायन एवं वाजीकरण के पूर्व पंचकर्म एक आवश्यक कर्म के रूप में निर्दिष्ट है। बिना पूर्व पंचकर्म के रसायन एवं वाजीकरण का उपयोग व्यर्थ है।

पंचकर्म- श्रेष्ठ संशोधन उपचार-

चिकित्सा दो प्रकार की होती है।

(1) शोधन

(2) शमन

श्रेष्ठ चिकित्सा वही होती है जो रोग के कारण को समूल नष्ट कर दे और रोग की पुनः उत्पत्ति न हो, यह पंचकर्म द्वारा ही सम्भव है। परन्तु शमन द्वारा पुनः रोगोत्पत्ति सम्भव है।

पंचकर्म द्वारा रोगोत्पादक दोष, विष, मल और विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकाला जाता है।

तत्रैके लंघनादि त्रिकवर्जित पूर्वकर्म। प्रधान्य पाटन रोपणं यथा प्रधानं कर्म बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्मेति समादिशेत्। (डल्हण सु. सू. 5/3 पर)

प्रथम पूर्व- लंघन, पाचन, दीपन, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन

प्रधान- व्रण का पाटन, रोपणादि

पश्चात्- चिकित्सा दी जाती है बल, अग्नि को बढ़ाने हेतु।

अपरे तु चयादीनां पूर्वरूपांतानां आतंकोत्पत्ते: प्राक् यत् क्रियते तत्पूर्व कर्म, आतंकोत्पत्तौ यत् तत्प्रधानं कर्म, निवृत्तातंकस्यानुबंधोपचारणाय यत् यत् पश्चात्कर्म। (डल्हण सु. सू. 5/3 पर)

द्वितीय पूर्व- चयन, प्रकोप, प्रसर, स्थान संश्रय, पूर्व रूप में योग्य उपाय

प्रधान-रोगोत्पत्ति के बाद किये जाने वाला उपाय

पश्चात्- रोग-पुनः उद्भव न हो इस हेतु किये जाने वाले उपाय।

अन्ये संशोधनस्य पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्व कर्म वमन विरेचन बस्ति नस्य शिरा मोक्षणानि प्रधानं कर्म, पेयादि संसर्जनं पश्चात्कर्म। (डल्हण-सु. सू. 5/3 पर)

तृतीय पूर्व- पाचन, स्वेदन, स्नेहन

प्रधान- पंचकर्म (वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य, सिरामोक्षण)

पश्चात्- संसर्जन क्रम

अष्टाङ्ग आयुर्वेद में पंचकर्म- आयुर्वेद के सभी अंगों में किसी न किसी रूप में पंचकर्म अथवा उसके पूर्वकर्म का प्रयोग किया जाता है। जैसे- **कायचिकित्सा** में उरूस्तम्भ को छोड़कर सभी रोगों में आवश्यकतानुसार पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। **शल्यतंत्र-** यदि उपक्रमों में पंचकर्म की शोधन क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

जनपदोध्वंस में पंचकर्म- जब वायु, जल, देश, काल की विषमता से जनपदव्यापी महामारियाँ फैलती है उस स्थिति में सामान्यजन को निरोग बनाने के लिए पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है उसके पश्चात् शरीर को दृढ़ करने के लिए रसायन का प्रयोग किया जाता है।

अगदतंत्र- विष वेगों की चिकित्सा में, **विष प्रतिकार –** विष का भक्षण करने से मृत्यु हो सकती है अतः रोगी का जीवन बचाने के लिए पंचकर्म- (यथा: वमन/विरेचन) द्वारा विष को शरीर से बाहर निकाला जाता है।

कौमारभृत्य में- धात्री के स्तन्य का शोधन तथा बालकों के अभ्यंग, परिषेक में पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है।

संहिताओं में पंचकर्म-

1. **चरक :-** आचार्य चरक ने वमन, विरेचन आदि शब्दों का प्रयोग प्रथम अध्याय से ही किया है। मूलिनी एवं फलिनी द्रव्यों का प्रयोग स्थल वर्णित करते हुए पृथक्-पृथक् वमन-विरेचन के द्रव्य कहे है परन्तु पंचकर्म शब्द का प्रयोग नहीं किया है। पंचकर्म शब्द का प्रथम वर्णन अपामार्ग तण्डुलीया-अध्याय में

प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः (च. सू. 2/14) पर किया है तथा

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।
पञ्च कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्॥ (च. सू. 2/15)

दोषों के उपस्थित (उत्क्लिष्ट) होने पर पहले स्नेहन, स्वेदन कराकर मात्रा और काल का विचार कर पंचकर्म का प्रयोग करना चाहिए। उपस्थितदोषाणां से शाखा को छोड़कर कोष्ठ की ओर प्रवृत्त होने के लिए तत्पर दोषों की अवस्था का भाव स्पष्ट होता है।

तस्याशितीय अध्याय में-

तस्माद् वसंते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्। (च. सू. 6/23 च. पा.) दोष चयाद्यर्थं 'पंचकर्म' प्रवृत्त्यर्थंचाभिधानव्य प्रावृडादि ऋतुक्रमेण फाल्गुन चैत्रो वसंतो भवति। न वैशाख।

यहाँ वसंत को फाल्गुन- चैत्र के अर्थ में लिया गया है स्वस्थवृत्त के अनुसार चय आदि से, न की वैसाख से है (शोधन कर्म हेतु चरक सिद्धि 6 के अनुसार है, जिसमें वैसाख माना जाता है।)

(विविधाशितपितीय) अध्याय में -

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।
बस्तयः क्षीर सर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥ (च. सू. 28/27)

अस्थि के आश्रित रोगों में पंचकर्म करना औषध है।

इसमें विशेषकर बस्ति और तिक्त वर्गों से सिद्ध किये हुए दूध व घृत का प्रयोग हितकर है।

"दश प्राणायतनीय" अध्याय में

शिरोविरेचनादेश्च 'पंचकर्माश्रयस्यौषध गणस्य:-----प्रयोक्तारः॥' (च. सू. 29/7)

शिरोविरेचन आदि पंचकर्म में प्रयुक्त होने वाले औषध समुदायों का ज्ञान तथा **प्राणाभिसार** के लक्षण देते हुए कहा है कि पंचकर्माश्रय औषधियों का सम्यक् प्रयोग करने वाले प्राणाभिसार होते है।

चरक चिकित्सा में अनेक जगह वर्णन है जैसे- अपस्मार- **"कर्मभिर्वमनादिभिः"**

पंचकर्म के प्रभाव की सीमा (Limitation of Panchkarma)

चरक चिकित्सा उरूस्तम्भ अध्याय में (27/6 पर)

क्या दोष से उत्पन्न ऐसा भी रोग है जो चिकित्सा से साध्य हो पर जिस रोग को शान्त करने में पंचकर्म असमर्थ हो। इस संशय का निराकरण करते हुए कहा है कि उरूस्तम्भ को छोड़कर अन्य सभी रोगों में पंचकर्म कारगर है।

कल्पना सिद्धि अध्याय में (1/1-5)

पंचकर्म विषय पर प्रश्न आदि के माध्यम से पंचकर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

2- पंचकर्मीय सिद्धि- अध्याय में पंचकर्म का विस्तार से वर्णन है।

वाग्भट्ट एवं सुश्रुत में अपेक्षाकृत कम वर्णन प्राप्त होता है किन्तु अधिक व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है। परवर्ती अन्य संहिताओं में भी पंचकर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

पंचकर्म चिकित्सा का मूल स्रोत

चरक अनुसार चिकित्सा के जो मूल उपक्रम है वे ही पंचकर्म के मूल स्रोत है। यथा-

चरक ने उपक्रमों को 6 प्रकार का बताया है।

चरक सूत्र 22 लंघन- बृंहणीय अध्याय में

लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तंभनं चैव जानीते यः स वै भिषक्॥ (च. सू. 22/4)

जो इन 6 उपक्रमों को जानता है वह भिषग् है।

तर्पण- रस रक्तादि धातु को पोषण देना जिससे धातु की तृप्ति हो- संतर्पण कहलाता है।

बृंहण- शारीरिक धातु के अणुओं को आकार में बड़ा करने वाली चिकित्सा बृंहण है।

अतः संतर्पण में कब संतर्पण किया जा सकता है, जैसे- सत्तु द्वारा

परन्तु बृंहण वह कभी नहीं होता है।

बृंहण विशेषतः मांस मेद का अधिक बृंहत्व करता है।

जहाँ संतर्पण- रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र के लिए अलग-अलग प्रकार का होता है।

मांस-मेद का तर्पण करने वाले बृंहण के अंतर्गत आ सकते है। परन्तु इसमें सभी संतर्पण का बृंहण में समावेश नहीं हो सकता है।

संतर्पण में वात, मूत्र, मल, कफ, पित्त के अनुलोमन, मूत्रकृच्छ्रहर तर्पण, मद्य विकारनुत तर्पण इत्यादि अनेक प्रकार है- इसका कार्य- मल और दोषों पर भी स्पष्ट है।

परन्तु बृंहण केवल धातु बृंहण ही है। संतर्पण- बृंहण में अधिक स्पष्ट करने हेतु ही सम्भवतः चरक ने लंघन- बृंहणीय अध्याय के अतिरिक्त स्वतंत्र संतर्पणीय (च. सू. अ. 23) अध्याय की रचना की है। इसी तरह लंघन व अपतर्पण एक नहीं हो सकते है।

लंघन से लघुता- कार्श्य होगा और अपतर्पण से भी होगा, परन्तु अपतर्पण में हमेशा कार्श्य होना आवश्यक नहीं है।

रसादि धातुओं में जो अधिक तत्व है उसे निकालना अपतर्पण है परन्तु उससे लंघन होना जरूरी नहीं है।

जैसे- मांस-मेद, अस्थि, मज्जा दुष्टि में तिक्त घृत का प्रयोग अपतर्पण होता है परन्तु लंघन नहीं।

लंघन का मुख्य प्रभाव मेद पर है।

अतः यद्य पद्य भेद से कभी लंघन-अपतर्पण, बृंहण-संतर्पण का कहीं-कहीं प्रयोग किया हो तो भी उन्हें पर्याय नहीं समझना चाहिए। परन्तु आचार्य वाग्भट्ट ने दोनों को अधिक सरल रूप में समझने हेतु, स्थूल रूप में पर्याय समझा जा सकता है परन्तु सूक्ष्म स्तर पर नहीं। अतः उपक्रम में इन छः प्रकारों में ही पंचकर्म पद्धति का मूल छुपा है।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः॥
बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ॥ (अ. ह. सू. 14/1-2)

वाग्भट्ट में चिकित्सीय पुरुष उपक्रम्य को 2 प्रकार का मानकर चिकित्सा भी 2 प्रकार की बताई है।

1. संतर्पण – (पर्याय बृंहण)

2. अपतर्पण – पर्याय लंघन माना है।

वाग्भटानुसार या तो आतुर का तर्पण या कर्षण करना पड़ता है। क्योंकि पंचमहाभूत भी 2 स्वभाव वाले होते है-

वाग्भट्ट ने अपतर्पण को शोधन एवं शमन में विभक्त किया है तथा

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लंघनम्।
पंचधा शोधनं च तत्-निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः।
शमनं तच्च सप्तधा-पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः॥ (अ. ह. सू. 14/4 से 7)

शमन 7 प्रकार- दीपन, पाचन, क्षुत्, तृषा, व्यायाम, आतप, वायु।

शोधन 5 प्रकार- वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य एवं रक्त मोक्षण

पंचकर्म सामान्य विचार

पंचकर्म के क्रम का वर्णन :-

पंचकर्मोत्सिप्रस्तावे वमन विरेकान्वासन निरूहानुक्त्वा नस्य विधिमाह। (अ. द., अ. ह. सू. 20/1 पर)

अष्टांग हृदयकार वाग्भट्ट के टीकाकार अरूणदत्त ने नस्य अध्याय के प्रारम्भ में पंचकर्म प्रस्ताव के अंतर्गत वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन कहकर अब नस्य कह रहे है, संदर्भ प्राप्त होता है।

वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन-नस्य का क्रम वस्तुतः चरक- सिद्धि स्थान में प्रथम अध्याय (कल्पना सिद्धि) के अनुसार है। न कि द्वितीय सूत्र (अपामार्ग तण्डुलीय) अध्याय के अनुसार है, इस अध्याय में शिर को प्रधान इन्द्रियाँ मान कर केवल संख्या का वर्णन किया है न कि प्रयोग करने के क्रम का।

I (b) पंचकर्म व शोधन (Panchkarma and Shodhana)

शोधन की परिभाषा

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च यत्॥ (अ. स. सू. 24/7)

जिससे दोष, धातु एवं मलों आदि के विकारी भावों को शरीर से बाहर निकाला जाता है। यह पांच प्रकार है।

प्रश्न – क्या पंचकर्म केवल शोधन है।

उत्तर– प्रायशः शोधन है, केवल शोधन नहीं क्योंकि निरूह के भेद में बृंहण बस्ति आदि तथा नस्य के भेद बृंहण नस्य आदि का वर्णन है।

अनुवासन बस्ति, शमन बस्ति, आदि भी केवल शोधन कर्म नहीं करती है।

चरक ने शोधन वर्णन में अनुवासन छोड़कर शेष चार माने है।

चरक ने लंघन बृंहण अध्याय में

चतुष्प्रकारासंशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ (च. सू. 22/18)

च. पा. – चतुष्प्रकारा संशुद्धिः इति अनुवासनं वर्जयित्वा तस्य बृंहणत्वात्॥

पंचकर्म में रक्तमोक्षण न होने का कारण

1. रक्तमोक्षण को शल्य प्रधान समझकर महत्त्व न दिया हो।

2. आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार-

मुख से प्रयुक्त औषध	आमाशयगत रोगों में	वमन व विरेचन उपाय है।
गुद से प्रयुक्त औषध	पक्वाशयगत रोगों में	विरेचन व बस्ति उपाय है।
नासा से प्रयुक्त औषध	ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में	नस्य उपाय है।

इसमें प्राकृत स्रोतों द्वारा ही शोधन होता है। (अ. ह. सू. 13/31)

रक्तमोक्षण हेतु ऐसा प्राकृत स्रोत नहीं है। कृत्रिम बनाना पडता है।

3. वमन, विरेचन आदि में दोष व्यवस्था है।

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।

बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु॥ (अ. ह. सू. 1/25)

वमन – कफ के लिए

विरेचन – पित्त के लिए

बस्ति – वात के लिए

परन्तु रक्त मोक्षण पर सीधे दोष व्यवस्था नहीं है। किन्तु आश्रय–आश्रयी भाव से पित्त दोष से सम्बन्धित है

शोधन (पंचकर्म) का महत्त्व (Importance of panchkarma)

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघन पाचनैः।

जिताः संशोधनैर्येतु न तेषां पुनरुद्भवः॥ (च. सू. 16/20)

शमन चिकित्सा द्वारा दोषों का प्रशम तो होता है परन्तु पुनः प्रकोप की सम्भावना बनी रहती है परन्तु संशोधन करने से मूल से ही दोष नष्ट होता है जिससे उसका पुनःरूद्भव नहीं होता है।

उपमाः–

दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति।

रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा॥ (च. सू. 16/21)

जिस प्रकार वृक्ष के नष्ट हो जाने पर भी यदि उसका मूल न नष्ट किया जाए तो उसमें पुनः हरापन (जीवन) आ जाता है। उसी प्रकार यदि रोगों को समूल नष्ट न किया जाए तो पुनः रोग उत्पत्ति सम्भव है।

वातादि दोष दूष्यों के साथ निम्न प्रकार के समवाय है–

1. प्रकृति सम समवाय (Physical relation)
2. विकृति विषम समवाय (Chemical relation)

प्रकृति सम समवाय स्थिति में दोषों का निवारण आसान है।

परन्तु विकृति विषम समवाय होने पर पंचकर्म द्वारा ही साध्य है।

संशोधन सशमनं निदानस्य च वर्जनम्।

एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ (च. चि. 7/30)

चिकित्सा के तीन प्रकार– संशोधन, सशमन और निदान परिवर्जन है, जिसका चिकित्सक को प्रत्येक रोग में इन तीनों का प्रयोग विधिपूर्वक करना चाहिए।

दोषों की वृद्धि की अवस्था को निवारण करने के लिए 3 प्रकार की चिकित्सा वर्णित है:–

1. अंतः परिमार्जन– शोधन
2. बहिः परिमार्जन – अभ्यंग, स्वेदन, परिषेक, उद्वर्तन
3. शस्त्र प्रणिधन – शल्य कर्म

इस प्रकार चिकित्सा के प्रकार तथा सिद्धान्तों में पंचकर्म का विशिष्ट रूप से वर्णन है।

संशोधन के गुण

एवं विशुद्ध कोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते। व्याधयोश्चोपशाम्यते प्रकृतिश्चानुवर्तते॥

इंद्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्यप्रसीदति। बलं पुष्टिरपत्यंच वृषतां चास्य जायते॥

जरां कृच्छ्रेण लभते चिरंजीवत्यनामयः॥ (च. सू. 16/17–19)

1. काय अर्थात् शरीर की अग्नि में वृद्धि
2. रोगों का उपशमन
3. स्वास्थ्य (प्रकृति) का अनुवर्तन
4. इंद्रियां, मन एवं बुद्धि के कार्यों में श्रेष्ठता
5. वर्ण का प्रसादन
6. बल की वृद्धि
7. शरीर की पुष्टि
8. अपत्य या संतान उत्पत्ति की क्षमता तथा वीर्य वृद्धि
9. जरा/वृद्धावस्था में देरी
10. रोग रहित दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

Important consideration before the administration of Panchkarma

सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसां अवस्थान्तराणि यानि अनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धि आकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः तस्मात उभयमेतत् यथावत् उपवेक्ष्यामः सम्यक प्रयोग चौषधानां व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषुत्तरकालम्॥ (च.सू. 15/15)

दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति व आयु ये सूक्ष्म परीक्षा का वर्णन किया गया है। इन सूक्ष्म परीक्षा से निर्मल व अधिक बुद्धि वाले भी घबरा जाते हैं। औषध के सम्यक व असम्यक प्रयोग से होने वाले उपद्रव की चिकित्सा सिद्धि स्थान में बताई है।

I (c) स्वास्थ्य रक्षण एवं व्याधिहर में पंचकर्म का महत्त्व (Importance of panchkarma in promtion, prevention and treatment of disease)

प्रयोजन एवं महत्त्व (Aims and Importance)–

प्रयोजन (Aim)– पंचकर्म जिन-जिन हेतुओं से किया जाता है– वे तीन भागों में विभक्त है–

(1) स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म – स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण हेतु।

(2) रसायनादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिए –

(3) रोगानुसार पंचकर्म – रोगी व्यक्ति के रोग का प्रशमन हेतु।

1. स्वस्थ के स्वास्थ्य रक्षण हेतु (Promotion and Prevention of Health)–

(A) दैनिक नित्य कर्म में– शौच, दंतधावन, स्नान आदि की तरह स्नेहन (अभ्यंग), शिरस्तैल, प्रतिमर्श नस्य, पादाभ्यंग, मात्राबस्ति, कर्ण तैल आदि पंचकर्म की विधियों का नित्य दैनिक जीवन में प्रयोग करना चाहिये इससे शरीर बलिष्ठ तथा स्वस्थ बना रहता है।

(B) अधारणीय वेग धारणजन्य व्याधियों में – वात, मल, मूत्रादि तेरह प्रकार के वेगों को धारण करने से शरीर को कष्ट होता है इसमें पंचकर्म द्वारा इस कष्ट (दुःख) को दूर किया जाता है।

रसायनादि की असाधारण गुण प्राप्ति हेतु–

रसायन–वाजीकरण में– इन कर्मों द्वारा शरीर में बल प्राप्ति तथा संतान उत्पत्ति करने की क्षमता प्राप्त होती है ये क्रियाएं तभी कार्यकारी होती है जब इनके प्रयोग से पहले पंचकर्म द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है।

(C) रोगानुसार पंचकर्म (Importance for teatment of diseases)–

यदि रोगों को लघंन पाचन आदि क्रियाओं द्वारा नष्ट किया जाता है तो उनकी पुनः उत्पन्न होने की आकांक्षा बनी रहती है यदि पंचकर्म (संशोधन) द्वारा रोगों को नष्ट किया जाता है तो उनकी पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। अर्थात् पुनः रोग उत्पत्ति नहीं हो पाती है।

2. त्रिविध कर्म व शोधन में महत्त्व (Trividha Karma and Their Relation to Shodhana)

पञ्चकर्म की रूपरेखा

1. पूर्वकर्म, 2. प्रधानकर्म और 3. पश्चात्कर्म – इन तीन कर्मों के द्वारा पञ्चकर्म पूर्ण/सफल होता है।
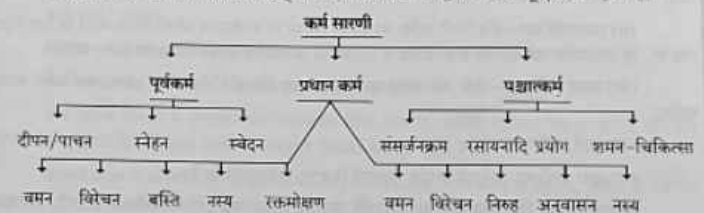
1. पूर्वकर्म– पञ्चकर्म द्वारा जिस व्यक्ति का शोधन करना अभीष्ट होता है, उससे पूर्व जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें पूर्वकर्म कहते हैं। पूर्वकर्म तीन प्रकार के है– 1. दीपन/पाचन, 2. स्नेहन और 3. स्वेदन।

(i) दीपन/पाचन– सम्यक पाचनार्थ अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधी और आम पाचन हेतु औषधों का प्रयोग करना दीपन-पाचन कर्म है।

(ii) स्नेहन– घृत–तैल–वसा–मज्जा ये चार उत्तम स्नेह हैं और इनके सदृश्य स्नेहों का प्रयोग बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से किया जाता है। किसी को केवल स्नेह (अच्छ स्नेह) का पान कराया जाता है और किसी को भात, यूष आदि में मिलाकर स्नेह (प्रविचारण के रूप में) दिया जाता है। बाह्य प्रयोग में तेल या अन्य स्नेह द्वारा अभ्यंग, पिडिचिल आदि का प्रयोग किया जाता है।

(iii) स्वेदन– स्वेदन दो प्रकार से किया जाता है–

(A) साग्नि और

(B) निराग्नि।

(A) साग्नि में अग्नि से तपाकर संकर, प्रस्तर, नाडी, जेन्ताक आदि तेरह प्रकार से स्वेदन किया जाता है।

(B) निराग्नि स्वेद में व्यायाम कराकर, उष्ण सदन (गर्म कक्ष में रखकर), गुरु प्रावरण (रजाई आदि ओढ़ाकर), क्रोध, क्षुधा आदि उपायों से बिना अग्नि संयोग के स्वेदन कराया जाता है।

इन पूर्वकर्मों द्वारा जब दोष कोष्ठ की ओर आते है, तो निकट के मार्ग से उनका निर्हरण कर दिया जाना चाहिए।

2. **प्रधानकर्म**– वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण या वमन, विरेचन, निरूह व अनुवासन बस्ति तथा नस्य। ये पाँच प्रधान कर्म है।

3. **पश्चात कर्म**– वमन-विरेचन आदि के द्वारा शरीर का शोधन करने के पश्चात्, अग्नि वृद्धि हेतु और बलस्थापन के लिए तथा शरीर को प्राकृत अवस्था में लाने हेतु जो कर्म किये जाते हैं, वे पश्चात् कर्म कहे जाते है। जैसे- (i) संसर्जन क्रम, (ii) रसायन-वाजीकरण प्रयोग और (iii) शमन प्रयोग।

(i) **संसर्जन कर्म**– पञ्चकर्म द्वारा शोधन किये जाने पर जठराग्नि दुर्बल हो जाती है और आहार का पाचन करने में क्षीण/असमर्थ होती है, अतः अग्नि वर्द्धन हेतु आहार कल्पना लघु से गुरु की ओर की जाती है। जैसे पेया, विलेपी, यूष, मांसरस और कृत मांसरस, क्रमशः उत्तम-मध्यम-अवर शुद्धि के अनुसार खिलाकर तदनन्तर प्राकृत आहार दिया जाता है। इस क्रम को संसर्जनक्रम कहते है।

(ii) **रसायनादि क्रम**– यदि किसी व्यक्ति का शोधन रसायन या वाजीकरण औषध-सेवन कराने के लिए किया गया हो, तो उस व्यक्ति को संसर्जन क्रम के पश्चात् रसायन या वाजीकरण औषध का प्रयोग करना चाहिए।

(iii) **शमन चिकित्सा**– रोगी को संसर्जनक्रम के पश्चात् रोगानुसार रोगनाशक औषध का प्रयोग करना चाहिए।

वमन कर्म : परिचय

वमन द्वारा दोषों को उर्ध्वमार्ग अर्थात् मुखमार्ग से बाहर निकाला जाता है।

जो द्रव्य अपक्व पित्त तथा कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख द्वारा बाहर निकाल देता है, उसे वमन कारक द्रव्य कहते है। जैसे-मदनफल।

वमन के पर्याय– वमि, छर्दि, वमन

वमन का कार्य– कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषों का सन्निकृष्ट मार्ग से निकालने का सिद्धान्त है, अतः वमन से आमाशयस्थ कफदोष के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर स्थित वैकृत कफ दोष का समूलोच्छेदन हो जाता है जिससे कफज रोगों के होने की सम्भावना क्षीण या समाप्त हो जाती है।

विरेचन कर्म : परिचय

दोषों को अधोमार्ग (गुदा) से बाहर निकाल देना विरेचन कहलाता है तथा उर्ध्व व अधः मार्ग शोधन हेतु भी विरेचन संज्ञा दी गई है। यह पित्तदोषज विकारों का उपचार है। पित्त के लिए, पित्तप्रधान दोषों के लिए, कफसंसृष्ट पित्त के लिए और पित्तस्थानगत कफ के लिए विरेचन देना उत्तम है। विरेचन आमाशय के पित्त का शोधन कर अन्य शरीर स्थित वैकृत पित्त को भी शान्त कर देता है।

बस्ति कर्म : परिचय

बस्ति मूत्राशय को कहते हैं और बस्ति (Urinary bladder) के द्वारा जो औषध (गुदादि मार्ग से) शरीर में प्रविष्ट की जाती है तथा शरीर में कुछ काल रह कर कार्य करती है। उसे बस्ति कहते हैं। इस प्रकार बस्तिकर्म का अर्थ है- मूत्राशय या बस्ति द्वारा औषधियों को आभ्यन्तर प्रविष्ट करना।

बस्ति शब्द से निरूह, अनुवासन और उत्तरबस्ति आदि बस्तियों का बोध होता है। बस्ति द्वारा प्रायः गुदमार्ग से औषध-सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, मांसरस आदि को पक्वाशय में प्रविष्ट कराया जाता है। मूत्रमार्ग या योनिपथ से जो

बस्ति दी जाती है, उसे उत्तरबस्ति कहते हैं। व्रण मुख में जो बस्ति देते है उसे व्रण बस्ति कहते हैं। गुद से पक्वाशय में, मूत्रमार्ग से मूत्राशय में और योनिमार्ग से गर्भाशय में बस्ति यन्त्र द्वारा औषध पहुँचाई जाती है।

पूर्वकाल में गाय, बैल, बकरे या भैंस आदि प्राणियों के मूत्राशय का बस्ति के लिए प्रयोग होता था। परन्तु रबर के आविष्कार पश्चात् प्राणि मूत्राशय का प्रयोग लगभग न्यून हो गया है।

बस्ति सर्वाङ्ग शरीर के लिए व्यापक लाभकर के साथ-साथ वायुजन्य रोगों के प्रतिकार के लिए श्रेष्ठतम चिकित्सा है। क्योंकि सर्वाधिक रोग वायु के कारण होते है। इसी कारण बस्तिकर्म आधी चिकित्सा तथा कुछ विद्वानों के अनुसार बस्तिकर्म सम्पूर्ण चिकित्सा है।

नस्य कर्म : परिचय

परिचय– नासिका द्वारा औषध-चूर्ण अथवा औषध-सिद्ध द्रव्यों का प्रयोग नस्यकर्म कहलाता है।

पर्याय– नस्यकर्म, नस्तः कर्म, शिरोविरेचन, शिरोविरेक, मूर्धविरेचन, नस्तः प्रच्छर्दन

उर्ध्व जत्रुगत विकारों में विशेषकर नस्य का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि नासिका शिर का द्वार है और इस द्वार से प्रविष्ट औषध शिर में व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों को दूर करती है।

आचार्य चरक के अनुसार शिर, ग्रीवा, स्कन्ध, नेत्र, नासिका, मुख, दन्त आदि के रोगों में, अर्दित में, स्वरभेद में, वाग्ग्रह और गद्गद (हकलाने) में नस्य उपयोगी है। (च. सि. 2/22)

रक्तमोक्षण : परिचय

पर्याय– रक्तावसेचन, रक्तनिर्हरण, रक्तस्रावण, शोणितमोक्षण, रक्तहरण और अस्रविस्रुति।

परिचय– शरीर के किसी स्थान-विशेष से रोग मुक्ति हेतु रक्त को निकालना रक्तमोक्षण कहलाता है। रक्त के दूषित होने पर अनेक प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है। अतः रक्त दुष्टी होने पर उसको रक्त मोक्षण के द्वारा शरीर से बाहर निकालने पर तज्जन्य रोगों के होने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। क्योंकि रक्त और पित्त का आश्रय-आश्रयी भाव होने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए रक्त रोगों की चिकित्सा हेतु रक्त-पित्तहर, विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण निर्देशित है।

पूर्वकर्म का महत्व (Importance of Purva karma)

स्नेहस्वेदौ विना शोधने विकारोत्पत्ती युक्तिः स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्। दारु शुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ।। (सु.चि. अ. 33)

स्नेहन स्वेदन प्रयोग बिना जो व्यक्ति संशोधन औषध का सेवन करता है उसका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूखा काष्ठ मोड़ने पर टूट जाता है।

विभिन्न संहिता में पञ्चकर्म के प्रमुख सन्दर्भ

1. चरकसंहिता- सूत्रस्थान अ. 2, 13, 14, 15, 16, 22। विमान. अ. 8। कल्प. अ. 1-12 तथा सिद्धि. अ. 1-12

2. सुश्रुतसंहिता- सूत्र. अ. 13, 14, 39। चिकित्सा. अ. 1 तथा 31-40 तक।

3. अष्टाङ्गहृदय- सूत्र. अ. 16, 17, 18, 19, 20, 26, 27। कल्प. अ. 1-5 तक।

4. योगरत्नाकर- प्रकीर्ण विषय।

5. भावप्रकाश- पूर्व खण्ड।

वर्तमान में पंचकर्म की उपादेयता

वर्तमान समय एक सामान्य आधुनिक मशीनी युग बन गया है। जिसके कारण लोगों की जीवनचर्या में मूलभूत परिवर्तन हुए है जिसमें आहार सम्बन्धी जैसे फास्ट फूड, डिब्बा बंद भोजन, उच्च कैलोरी युक्त भोजन, अनियमित भोजन ग्रहण तथा शारीरिक श्रम एकदम अल्प हो गया है। अर्थात् वर्तमान युग में शारीरिक श्रम कम तथा मानसिक श्रम अधिक हो गया है। आरामदेह जीवन व्यतीत करने की लालसा के कारण अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त होने लगे है। जिसमें प्रमुख रूप से मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हाइपोथाईरोडिज्म, हृदय रोग आदि शामिल है। पक्षाघात, अर्दित, कटिशूल, ग्रीवा शूल, आमवात, संधिगत वात जैसी व्याधियों के साथ इम्यून सिस्टम के रोग भी अधिक तेजी से बढ़ रहे हैं। इन सभी रोगों की भारत में बहुत तेजी से प्रगति हो रही है। तथा सार्वाधिक चिन्तनीय विषय यह है कि ये रोग अब ग्रामीण परिवेश तक पहुँच गए हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में भी इनकी कोई कारगर या स्थाई चिकित्सा उपलब्ध नहीं है।

परन्तु चिन्तनीय विषय केवल आतुर के रोग शमन का नहीं है अपितु रोग ही न हो इस हेतु स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा भी अपेक्षित है। इस सिद्धान्त की पूर्ति केवल आयुर्वेद द्वारा ही सम्भव है और पंचकर्म के द्वारा रोग शमन एवं स्वस्थ के स्वास्थ्य के नियमन होता है। अतः वर्तमान समय में स्वस्थ के स्वास्थ्य हेतु स्वस्थवृत्त की दृष्टि से शास्त्र में वर्णित पंचकर्म करना चाहिए जैसे वसंत में वमन, शरद में विरेचन तथा वर्षा में बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा के सिद्धान्त के अनुसार चाहे वह आयुर्वेद या आधुनिक विज्ञान के हो, दोनों के अनुसार रोग पूर्ण रूप से नष्ट होकर पुनः उद्भव नहीं होना चाहिए तथा कोई नया अन्य रोग या उपद्रव भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए। चिकित्सा के इस सिद्धान्त की पुष्टि भी पंचकर्म के द्वारा सम्भव है क्यों पंचकर्म से ही रोगों को समूल नष्ट कर सकते हैं जिससे उनका पुनः उद्भव न हो अथवा रोग अवश्य ही पहले की अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते है जिससे दीर्घकाल तक औषध सेवन की आवश्यकता नहीं होती है जैसी आजकल आधुनिक चिकित्सा पद्धति के सेवन में होती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जो रोगी आयुर्वेद चिकित्सक के पास आता है वह बहुलोल्बण दोष प्रकोप की अवस्था में आता है तथा पूर्व में ही अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा (अनेक औषध प्रयोग) लेकर आता है इसलिए इस दृष्टि से भी पंचकर्म चिकित्सा का महत्व बढ़ जाता है क्योंकि इस अवस्था में आतुर को पंचकर्म जैसी आशुकारी चिकित्सा से ही शीघ्र लाभ दिलवाया जा सकता है।

वर्तमान समय में पंचकर्म सम्पूर्ण विश्व में डी-टोक्सीफिकेशन एवं रिलेक्स थैरेपी के रूप में विख्यात है। पंचकर्म के ही कारण मेडिकल टूरिज्म के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए है और पंचकर्म चिकित्सा लेने हेतु लोग विदेशों से भी भारत आने लगे है इसकी ख्याति का अनुमान इससे लगा सकते हैं कि विदेशों में भी अनेक आयुर्वेद एवं पंचकर्म के केन्द्र खुल गए है। क्यों सम्पूर्ण विश्व एक ऐसी चिकित्सा पद्धति चाहता है जो सुरक्षित, उपद्रव रहित, जिसका प्रभाव अधिक समय तक हो तथा रासायनिक पदार्थों का उपयोग अल्प या न हो। आयुर्वेद की पंचकर्म

चिकित्सा पद्धति ही ऐसी चिकित्सा पद्धति है जिसने चिकित्सा अनुसंधान, रोग मुक्ति, स्वास्थ्यानुवर्तन क्षेत्र में अपने नये आयाम स्थापित कर, सभी चिकित्सा पद्धतियों में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

पंचकर्म चिकित्सा पद्धति, वर्तमान में तेजी से बढ़ रहे ऐसे रोग जिनकी कोई विशेष चिकित्सा उपलब्ध नहीं है या केवल शल्य पर आधारित है पर भी कारगर है जैसे- हारमोन सम्बन्धी रोग, इम्यून सम्बन्धी, त्वक् रोग जैसे (सोरायसिस, SLE, श्वित्र, विचर्चिका) मस्कुलो स्केलेटल, न्यूरोलोजिकल, रूमेटिज्म, स्पाइनल कोर्ड सम्बन्धी, अस्टियोपोरोसिस, मानसिक व्याधियाँ जैसे अनिद्रा, उन्माद, अपस्मार तथा ई. न. टी. के रोग आदि में।

जिसमें जैविक शोधन अंगों के स्तर (Organ level) तक ही न होकर कोशिका के स्तर (Cell level) पर भी होता है इसीलिए जिन रोगों की आशातीत चिकित्सा नहीं हो पाती है उनके लिए पंचकर्म ही विकल्प के रूप में देखा जाता है।

स्नेहन-स्वेदन को प्रधान कर्म में सम्मिलित न करने का कारण–

इह वमनादिषु कर्म लक्षणं बहिर्निकर्तव्यता योगि दोष निर्हरण शक्तिर्ज्यायस्त्वम्।

तेन तंत्रांतरेषा स्नेहस्वेदौप्रक्षिप्य सप्त कर्माणि इति यदुच्यते तन्न स्यात्। नहि स्नेहस्वेदौ दोष बहिर्निस्सरणं कुरुतः। दोष संशमनं तु कुरुतः। (च. सू. 2/15 पर च. पा.)

प्रधान कर्म– पंचकर्म के अन्तर्गत स्नेहन-स्वेदन को स्थान न देकर पूर्वकर्म में रखा है। क्योंकि इसमें निर्हरण शक्ति का प्रकर्ष नहीं होता है परन्तु पंचकर्म में दोष निर्हरण की शक्ति का होना आवश्यक है।

पंचकर्म के पूर्व व अंत में स्नेहन प्रयोग

आचार्य चरकानुसार-

कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।
स्नेहस्वेदौ प्रयुंजीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत्।। (च. सि. 6/7)

वमन आदि कर्मों के बीच-बीच में स्नेहन और स्वेदन तथा वमनादि के अंत में स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये। जैसे-

स्नेहन → वमन → स्नेहन → विरेचन → स्नेहन → बस्ति → स्नेहन → नस्य
स्वेदन   स्वेदन   स्वेदन   निरूह   स्वेदन
अनुवासन

निरूह के पूर्व व पश्चात् अनुवासन अर्थात् स्नेह देते है।

प्रश्नः अनुवासन- निर्हरण करने में प्रधान नहीं है- फिर भी यह पंचकर्म में सम्मिलित है। नेत्रांजन, गंडूष, कर्णपूरण, आश्च्योतन, नेत्रतर्पण आदि क्यों नहीं है।

उत्तर– पक्वाशयस्थ प्रभूत पुरीष का निर्हरण के कारण (च. पा.) अनुवासन पंचकर्म में सम्मिलित है।

जबकि नेत्रांजन आदि में शोधन कर्तव्यता नहीं है। इसी प्रकार मूत्र शोधन भी पंचकर्म में नहीं है। क्योंकि मूत्रल हेतु औषधियों का आभ्यंतर प्रयोग है उसे कर्म (Process) प्राधान्य नहीं है परन्तु ऐसा विचार ठीक नहीं है। क्योंकि

वमनादि में भी आभ्यन्तर औषध प्रयोग है। और यदि कर्म प्राधान्य का विचार करें तो शलाकावचारण का मूत्र निर्हरण कर सकते है।

परन्तु- इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म प्रधान शलाकावचारण को पंचकर्म में सम्मिलित होना चाहिए अपितु वमनादि में शोधन के साथ दोष व्यवस्था स्पष्ट है। जो उपरोक्त कर्म में नहीं है इसीलिए

संशोधनसाम्यवैर्ये तु दोष प्रत्यनीकतया पंचकर्मोपयोगिनः शोधन द्रव्य संग्रहणता, वातादि शमन द्रव्यगणता कथयितव्या इति शेषः। (सु. सू. 39/1 पर डल्हण)

पंचकर्म को दोष प्रत्यनीक प्राधान्य कहा है।

3. (a) संशोधन के योग्य व अयोग्य (Indications and Contraindications of Shodhana)

बहुदोष अवस्था होने पर (शोधन के योग्य)

बहु दोष लक्षण (Indications of Shodhana) :–

अविपाकोऽरुचि स्थौल्यं पांडुता गौरवं क्लमः। पिडका कोठ कंडूनां संभवोऽरतिरेव च।।
आलस्य श्रम दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः। श्लेष्मपित्त समुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता।।
तंद्राक्लैब्यमबुद्धित्वमशस्त स्वप्नदर्शनं। बलवर्ण प्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि।।
बहुदोषस्य लिंगानि तस्मै संशोधनं हितं उर्ध्वं चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम्।।

(च. सू. 16/13 से 16)

अविपाक, अरुचि, स्थौल्य, पाण्डु, गौरव, क्लम, पिडका, कोठ, कण्डू, अरति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दौर्गन्ध्य, अवसाद, कफ-पित्त उत्क्लेश, अनिद्रा, अतिनिद्रा, तन्द्रा, क्लैब्य, अबुद्धि, दुष्ट स्वप्न, बल-वर्णनाश, अतितुष्ट बहुदोष के लक्षण है। इसमें संशोधन हितकर है।

उपाय-

बहु दोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वला प्रसेकोऽस्ति, तद्वत् दोषावसेचनम्।। (च. वि. 3/44)

जब दोष अधिक बढ़ जाए तो उनकी चिकित्सा दोषों का अवसेचन (बाहर निकालना) करना चाहिए जैसे पानी में डूबे खेत को सुखाने के लिए उस खेत की मेड़ तोड़कर पानी बाहर निकालते है वैसे ही बहुदोष अवस्था में अवसेचन करना चाहिए।

बहुदोष के साथ सामावस्था होने पर-

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव।
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युः दुर्निर्हरत्वतः।। (अ. ह. सू. 13/28/29)

संशोधन के अयोग्य (Contraindications of shodhana)

बहुदोष अवस्था में शोधन निर्दिष्ट है परन्तु बहुदोष होने पर भी यदि सामावस्था हो तो, शोधन नहीं करना चाहिए। क्योंकि सामदोष, शरीरस्थ रस, रक्तादि धातु में लीन होकर ऐसे चिपक कर रहते है जैसे कच्चे फल में उनका रस रहता है।

यदि शोधन की कोशिश करेंगे तो फल/शरीर का नाश हो जाए परन्तु रस/दोष बाहर या प्राप्त नहीं होंगे।

उपाय-

पाचनैः दीपनैः स्नेहैः तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेच्छोधनैः काले यथा सन्नं यथा बलम्।। (अ. ह. सू. 13/30)

साम और सर्व शरीर प्रसृत दोषों के होने पर पहले पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये और दोष शिथिल होने पर शोधन का प्रयोग करना चाहिए।

संशोधनार्हों में भी संशोधन कब न करे :–

दोषावसेचनं तु खलु अन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवं विधस्य कुर्यात्। तद्यथा अनपवादप्रतीकार-स्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्य मानिनश्चण्डस्यासूयकस्य तीव्राधर्मारुचेः अतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्य रोगोपहतस्य मुमुर्षुलिंगान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छतीति।। (च. वि. 3/45)

1. **अनपवाद प्रतिकारी** :– जो वैद्य के निर्देशों का पालन न करता हो।
2. **अधन**– जिसके पास धन नहीं हो या अल्प हो।
3. **अपरिचारक वाले**– जिसके पास परिचारक न हो।
4. **वैद्यमानी**– अपने आप को वैद्य मानने वाला/ठीक से आदेश पालन न करने वाला।
5. **चंड** – अति पराक्रमी व साहस अर्थात् मन स्थिर न हो।
6. **असूयक**– जो द्वेष करता हो।
7. **तीव्र धर्म अरुचि वाले**– धर्म/पंचकर्म में अनिच्छा या अविश्वास हो।
8. **अति क्षीण बलमांस रक्त**– अति रसादि धातु क्षय होने पर।
9. **असाध्य रोग** – असाध्य रोग होने पर।
10. **मुमुर्षु लिंगान्वितः**– मृत्यु सूचक लक्षण उत्पन्न होने पर।

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नोऽव्यग्र एव च। सद्राजभिषजां द्वेष्टा तद्द्विष्टः शोकपीडितः।।
याद्रच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्चयः। वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सुशङ्कितः।।
भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्या भिषग्विदा। एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात्।। (च.सि. 4/6)

जो रोगी चण्ड (अतिक्रोधी), अधिक साहस करने वाले, डरपोक, कृतघ्न, व्यग्र (जिसका मन स्थित न हो), अच्छे वैद्य तथा राजा से द्वेष करते हों, शोक से पीड़ित, नास्तिक, मरणासन्न, सामग्रियों से हीन, शत्रु, वैद्यविदग्ध

अर्थात् वैद्य न होते हुए भी स्वयं को वैद्य बताना, श्रद्धाहीन, सर्वत्र सन्देह करने वाले, वैद्य की बातों को न मानने वाले रोगियों की पंचकर्म चिकित्सा न करें।

3. (b) दोष संशोधनानुसार ऋतु विभाग (Shodhana according to Ritu)

संवत्सर एवं आतुरावस्था को काल कहा जाता है, इनमें संवत्सर को दो, तीन, छः आदि भागों में कार्यानुसार विभाजित किया जाता है।

यहाँ काल को छः भागों में विभाजित करते है- हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन तीन ऋतुओं को मध्यम में प्रावृट, शरद एवं बसन्त तीन साधारण ऋतुएं है। साधारण ऋतुओं से भिन्न ऋतु में संशोधन दु:खकारी व उपद्रवकारी होता है।

हेमन्त ऋतु में अधिक ठण्ड से शरीर प्रसन्न नहीं होता है और अत्यन्त शीतल वायु से परिपूर्ण होता है। अतः होने पर वात प्रकोप अनेक उपद्रव उत्पन्न करता है।

ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त गर्मी से संशोधन का अतियोग होता है।

वर्षा ऋतु में शोधन करने से शरीर भी रोगों के लिए गुरु समुन्य हो जाता है।

ऋतुचर्या में - ग्रीष्मादि ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दोष (वातादि) का संचय होता है उसी ऋतु में उस दोष का शोधन बतलाया है। क्योंकि संचय अवस्था में दोष निर्हरण से भावी रोग उत्पन्न नहीं होता है।

ग्रीष्म ऋतु में संचित वात	श्रावण मास में	वस्ति द्वारा
वर्षा ऋतु में संचित पित्त	कार्तिक मास में	विरेचन द्वारा
हेमन्त ऋतु में संचित कफ	चैत्र मास में	वमन द्वारा

आचार्य चरक ने 3 जगह ऋतुचर्या का वर्णन किया है।

आदान = उत्तरायण- सूर्यबल अधिक होता है।

विसर्ग = दक्षिणायन- सूर्य बल कम होता है।

तत्रादित्यस्योदगयनमादानंच त्रीनृतून शिशिरादीन् ग्रीष्मांतात् व्यवस्येत्। वर्षादीन् पुनर्हेमंतान् दक्षिणायनं विसर्गं च। (च. सू. 6/4)

(1) चरक सूत्र- तस्याशितीय अध्याय में

उत्तरायण (आदान काल)- शिशिरादि से ग्रीष्म ऋतु तक

दक्षिणायन (विसर्ग काल) - वर्षा से हेमन्त ऋतु तक वर्णन किया गया है।

प्रावृट	आषाढ़- श्रावण
शरद	कार्तिक- मार्गशीर्ष
वसंत	फाल्गुन- चैत्र

ये संशोधन के योग्य ऋतु है का वर्णन किया है। अर्थात् इन ऋतुओं में संशोधन हेतु औषधि प्रयोग करना चाहिए। यह संशोधन का समय स्वस्थ के लिए ही है रोगी या रोग अवस्था देखकर जब संशोधन उचित हो तब करना चाहिए।

चरक व सुश्रुत में प्रावृट क्रम में शिशिर छोड़ दी है परन्तु वाग्भट्ट ने प्रावृट का वर्णन नहीं किया है।

शुचि- अषाढ़	उर्ज- कार्तिक	तपस्या- फाल्गुन
नभ- श्रवण	सहो- मार्गशीर्ष	मधु- चैत्र

चैत्र, श्रवण, मार्गशीर्ष में हमेशा शोधन करना चाहिए।

पूर्ववत् ऋतु में योग्य दोष संचय नहीं होता अतः बाद की ऋतु में ही शोधन करना चाहिए।

(च. पा. च. सू. 7/46 पर)

रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थ वृत्तानुष्ठानेषुच शिशिरादिक्रमो भवति, संशोधन व्यवस्थायांतु प्रावृडादिरित प्रावृडादि क्रमोऽयं संशोधनानुकूलतयाचार्येण कल्पितो, न पारमार्थिकः। (च. पा., च. सि. 6/5-6 पर)

अतः स्वस्थवृत्त की दृष्टि से शिशिरादि क्रम तथा संशोधन की दृष्टि से प्रावृटादि क्रम का पालन करना चाहिए।

4. शाखा से कोष्ठ व कोष्ठ से शाखा में दोष गति (General Principles of Doshagati from koshta to shaka and vice versa)

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्।

कोष्ठाच्छाखा मलायान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥ (च. सू. 28/31)

1. व्यायाम द्वारा प्रक्षोभ से
2. उष्मा की तीक्ष्णता से, उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से
3. हितकर आहार विहार सेवन न करने से
4. वायु की अति शीघ्र गति से

दोष- कोष्ठ से शाखा की ओर गमन कर रोगोत्पत्ति करते हैं।

ज्ञात्वा कोष्ठ प्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्॥ (अ. ह. सू. 13/23)

शाखा से पुनः कोष्ठ में लाना और समीप मार्ग द्वारा बाहर निकालना यह चिकित्सा का सिद्धान्त है।

शाखा से पुनः कोष्ठ में लाने की विधि

वृद्धया विष्यन्दनात्पाकात् स्रोतो मुख विशोधनात्।

शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यांति वायोश्च निग्रहात्॥ (च. सू. 28/33)

1. दोषों की वृद्धि कर
2. विष्यंदन या विलयन कर
3. दोषों का पाक करके।
4. स्रोतों का मुख खोलकर
5. वायु पर नियन्त्रण करने से

शाखा में पहुँचे दोषों को पुनः कोष्ठ में आ जाते हैं।

स्नेहन- विष्यंदन करता है, दोषों को मृदु करता है, क्लेद को बढ़ाता है। जिससे आप्य द्रव्य प्रमाण बढ़ने से, सर और द्रवगुण से, स्रवण होने में सहायक होता है।

स्वेदन- उष्ण गुण से दोष का पाक होता है दोष पाक से ढीले होकर स्थान छोड़ते है।

स्वेद से स्रोतों के मुख का विकास होता है जिससे स्रोतों के मुख पर से चिपके धातु और मल हटकर शोधन होता है।

"वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधन मृदु"

स्नेहन-स्वेदन से वात का नियंत्रण भी होता है। अतः स्नेहन व स्वेदन दोषों को पुनः शाखा से कोष्ठ में लाने में सहायक है।

5. पंचकर्म काल का विचार (Duration of Panchkarma)

(प्रवर) शोधन की दृष्टि से

1 से 7 दिन------------ स्नेहपान

8 वे दिन ------------ विश्राम

9 वे दिन ------------ वमन

10 से 17 वे दिन तक---- संसर्जन क्रम

18 वे दिन, 19 वे दिन, 20 वे दिन — स्नेह पान

21 वे दिन, 22 वे दिन, 23 वे दिन — विश्राम

स्नेहात्प्रस्कंदनं जंतुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्।

स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्॥ (च. सू. 13/80)

स्नेह पीने के बाद 3 दिन विश्राम करें तथा इन 3 दिनों में स्नेह से मिश्रित द्रव, उष्ण मांस रस और भात का सेवन कर विरेचन औषध का सेवन करें।

24 वे दिन → विरेचन

यदि वमनानंतरं विरेचनं कर्तव्यं तदा नवमेऽह्नि सर्पिः पानं। (च. पा., च. सि. 1/20 पर)

पक्षाद् विरेको वांतस्य ततश्चापि निरूहणम्॥ (सु. चि. 36/52)

(वमन पश्चात् विरेचन हेतु 9वें दिन स्नेहपान तथा वमन के 15 वे दिन विरेचन दें)

25 वे दिन से 31 वे दिन तक — संसर्जन क्रम

वात हेतु - 9 से 11
पित्त हेतु - 5 से 7
कफ हेतु - 1 से 3
बस्ति देते हैं।

कर्म बस्ति 30
काल- 16
योग - 8 बस्ति देते हैं।
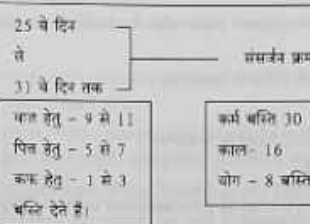
(रोग व रोगी के अनुसार)

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा

तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात्त्र्यहात्प्राप्ति बुभुक्षिताय। (च. सि. 1/20)

विरेचितस्तु सप्तरात्रात्परतो अनुवास्यः सप्ताहात्॥ (सु. चि. 36/51 पर डल्हण)

मद्योनिरूढश्चानुवास्यः सप्तरात्रात् विरेचितः। (सु. चि. 36/51)

विरेचन के बाद 7 दिन पुन संसर्जन क्रम तथा 9 वे दिन अनुवासन

वमन-विरेचन से शुद्ध तथा संसर्जन क्रम से बल प्राप्त पुरुष को 9वें दिन घृत पिलाना चाहिये अथवा अनुवासन बस्ति देनी चाहिए इसके बाद 3 रे दिन जो व्यक्ति अत्यधिक भूखा न हो अभ्यंग कर निरूह दें।

32 वे दिन - विश्राम

33 वे दिन - अनुवासन

+ 29 दिन तक कर्म बस्ति क्रम में देने पर

62 वे दिन - बस्ति पूर्ण हो जाती है।

60 दिन - परिहार काल (बस्ति का दुगुण काल = कर्म बस्ति (30 दिन = 60 दिन परिहार काल)

122 दिन - फिर नस्य (पर इसके दिन निश्चित 7 दिन देने पर)

+7 दिन

129 दिन पूर्ण हो जाते है नस्य देने तक (चरक के अनुसार)

रक्तमोक्षण - यदि 7 दिन स्नेहपान देना हो।

8 वे दिन अभ्यंग/स्वेदन

9 वें दिन- रक्त मोक्षण

138 दिन

यदि बिना स्नेहपान के रक्तमोक्षण देना हो कुल दिवस लगेंगे = 130 दिन

इस प्रकार नस्य तक 129 दिन में या रक्तमोक्षण स्नेहपान सहित में 130 दिन में प्रवर शुद्धि अनुसार पंचकर्म पूर्ण हो जाता है।

मध्यम शोधन (स्नेहपान काल 3 से 5 दिन के आधार पर)

कुल = 85 दिन।

अवर शोधन हेतु- (3 दिन तक स्नेहन/संसर्जन के आधार पर)

= 57 दिन में पंचकर्म पूर्ण होता है।

6. पंचकर्म और परिहार्य विषय (General precautions to panchkarma)

पंचकर्म के बाद आतुर प्राकृत अवस्था को प्राप्त हुआ है या नहीं देखना आवश्यक है

प्रकृतिस्थ पुरुष लक्षण/पंचकर्म पश्चात् आतुर लक्षण

सर्वक्षमो हि असंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेंद्रियः।

बलवान सत्वसंपन्नो सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृति गतः॥ (च. सि. 12/9)

सर्वक्षमो- सभी प्रकार के आहार-विहार में सक्षम या सभी रसों का सेवन में सक्षम

हय संसर्गो- मल मूत्रादि वेग प्राकृत ढंग से विसर्जित

रति युक्तो- प्रेम पूर्वक सभी कार्य या सभी विषयों में रूचि हो

सर्व सहो- सभी चेष्टाओं को सहन करने के लिए बल प्राप्त कर चुका हो।

अष्ट महादोषकर भावः-

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्व वर्ज्यानि वर्जयेत्। महादोष कराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः॥

उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचंक्रमणासने। अजीर्णाहित भोज्ये च दिवा स्वप्नं समैथुनं॥

(च. सि. 12/10-11)

ऊँचे स्वर में भाषण, विभिन्न वाहनों से गमन, ज्यादा घूमना, एक स्थान पर अधिक देर तक बैठा, अजीर्ण, अध्यशन न हो, दिन में सोना तथा मैथुन नहीं करना चाहिए।

संशोधित व्यक्ति की रक्षा की उपमा

शून्यदेहं प्रतिकारासहिष्णुं परिपालयेत्।

यथांडं तरुणं पूर्ण तैलपात्रं यथैव च।

गोपाल इव दंडीगः सर्वस्मादपचारतः॥ (च. सि. 12/4-5)

जिनका शरीर दूषित दोष, धातु, मल से शून्य हो गया है तथा शरीर में शून्य और दुर्बल हो जाने से जो व्यक्ति अन्य चिकित्सा कार्यों को सहन करने में असमर्थ हो ऐसे व्यक्ति की रक्षा निम्न प्रकार से करनी चाहिए।

1. तरुण अण्डे के समान- तरुण अण्डे में कलल भरा रहता है यदि स्थान परिवर्तन से कलल हिल जाए जिसके शरीर का ठीक प्रकार से परिवर्द्धन नहीं होगा। उसी प्रकार दुर्बल व्यक्ति को निश्चित स्थान पर रख कर चिकित्सा

करनी चाहिए। अर्थात् अण्डे को पकने तक की सावधानी, पकाने में लगने वाला श्रम, आवश्यक प्रेम, चिन्ता का रहना आवश्यक है।

2. तैल भरे पात्र समान- गमन करने पर भी तैल न गिरे इसी प्रकार इसकी दक्षता होनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक प्रक्रिया में विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

3. गोपाल इव दण्डीना- कृशकाय आतुर को दूसरे रोग न हो या शोधन में अपथ्य आहार विहार करे तो कठोर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् हमेशा रोगी हित में सजग रहना चाहिए।

7. Specifications of the Panchkarma Theatre and Neceman Equipment

No. of treatments depends on type & nature of treatments e.g. Basti will take less time however Vaman will take long time.

No. of treatment rooms

1. Snehana Kaksha (Male)
2. Snehana Kaksha (Female)
3. Swedana Kaksha (Male)
4. Swedana Kaksha (Female) and also for shastik shali, patra pinda, pindichill janu, kati basti and other procedures
5. Shirodhara Kaksha(Male)
6. Shirodhara Kaksha(Female)
7. Vamana Kaksha(Male)
8. Vamana Kaksha(Female)
9. Virechana Kaksha(Male)
10. Virechana Kaksha(Female)
11. Basti Kaksha(Male)
12. Basti Kaksha(Female)
13. Rakta Mokshana, Jalaukavacharana, Agnikarma, Pracchanna etc Kaksha
14. Panchkarma therapist/ Physician's room
15. Panchkarma store room

All rooms have attached toilet-bath with wash basin and geyser facility in each.

Physiotherapy Unit

16. Physiotherapy Room
17. Waiting Space for patients
18. Staff room- for changing uniform, lockers and rest
19. Male and Female toilets for common use

20. Medicine preparation area/Kitchen (to prepare medicine use for panchkarma procedure)

All Room Size: Minimum 10 ft. X 10 ft.

Instruments

Droni: Minimum 7ft. X 2.5ft. (Wood or Fibre)
Appropriate stand to fix droni: 2.5ft.height
Swedana chamber (vertical & Horizantal) and nadi swedan yantra
Footstool
Stool
Arm chair
Heating facilities
Shirodhara stand and shirodhara table
Basti Yantra
Uttara Basti Yantra for males and females
Bedpan (male and female)
Vamana patra/Table (Peeth)
Kidney trays
Raktamokshana kit including leeches,syringes and needles
Gokarnas
Stethoscope
Sphygmomanometer
Thermometer
Hot water-bath
Pressure cooker (5litres)
Small pillows covered with rexin sheet
Small almairah
Plastic aprons, gloves and masks
Knife and scissor
Clock
Hot water facility
Exhaust fans- Minimum 1 per room
Sufficient light and ventilation in each room
Autoclave equipment for sterilization

Specifications of the specialized Panchkarma – Uttarbasti (for Male and Female)

For Female Uttarbasti

1. **Room requirements** – Minimum 100 sq feet having good ventilation and light
2. **Articles requirements** -

a. Sterilizer or Autoclove
b. Pillow
c. Hot water bag
d. Kidney tray
e. Good light source
f. Table having bars for giving lithotomy position
g. Disposable syringes (5–10cc)
h. Sterilized Gloves
i. Sterilized cotton
j. Sterilized tampoons
k. Sterilized medicine (Medicated Ghee or oil or decoction used for treatment of Uttarbasti)

3. **Instrument requirements** – All instruments should be sterilized or autoclaved

a. Sims speculem
b. Anterior vaginal wall retractor
c. Vulsellum
d. Uterine sound
e. Swab holder
f. Artery forceps
g. Toothed forceps
h. Metallic or disposable insemination canula

For Male Uttarbasti –

1. **Room requirements –** Minimum 100 sq feet having good ventilation and light
2. **Articles requirements** -

a. Sterilizer or Autoclove
b. Pillow
c. Hot water bag
d. Kidney tray
e. Good light source
f. Disposable syringes (20 – 50 cc)
g. Sterilized Gloves
h. Sterilized cotton
i. Sterilized gauze
j. Foley's catheter (various sizes as per requirement)
k. Sterilized medicine (Medicated Ghee or oil or decoction used for treatment of Uttarbasti)

3. **Instrument requirements** – All instruments should be sterilized or autoclaved

a. Swab holder
b. Artery forceps

Specifications of Leech therapy

I. Space Requirement :

(a) Room for Minor O.T. : 200 Sq. ft.

II. Equipments / Miscellaneous items:

(a) Storage Aquarium for fresh leeches : 50-75 litres capacity (may be with partitions)

(b) Glass containers (1 litre capacity) for storing used leeches : 25 - 50 (For each patient requires separate container and the number may vary according to the number of patients)

(c) Leeches	:	(As per the requirement, usually 3-5 leeches per patient / treatment period)
(d) Surgical table	:	02
(e) Surgical trolley	:	04
(f) Surgical tray	:	05
(g) Instruments	:	Different types of Forceps, Scissors, Needles, Suturing material etc. (As per the requirement)

(h) Dressing tray with gloves, Bandage cloth, Bandages etc. (As per the requirement)

(i) Materials	:	Turmeric, Saindhava lavana, Jatyadi ghrita taila, honey (As per the requirement)

Panchkarma Technican/Assistant/Therapist- Minimum 2 per treatment room; male and female separate; i.e. minimum 2 male panchkarma technicians or 2 female panchakarma technicians for a treatment room.

Panchkarma Attendant Minimum 1 per treatment room; male and female separate

(1) अभ्यंग टेबल– यह एक काष्ठ निर्मित मात्र टेबल है जो द्रोणी हेतु उपयोगी लकड़ी जैसे सागवान की लकड़ी जिसकी लम्बाई 6 फिट, चौड़ाई 2.5 फिट और ऊँचाई 2.5 फिट की बनी होती है। जिसके ऊपर का स्तर प्रशस्त स्निग्ध, श्लक्ष्ण तथा दृढ़ हो और सम्भवत: एक ही काष्ठ से निर्मित अन्यथा एक संधिवाला हो। संधिस्थान पक्का होना चाहिए जिससे तैलादि का स्रवण (Leakage) न हो, और आतुर को किसी प्रकार की क्षति भी न हो, यह भी आवश्यक है। स्तर के कोने से चारों बाजू पर आधा इंच गहरा, 1 से 1.5 इंच चौड़ा एक ढलाव होना चाहिये। यह ढलाव इस टेबल को बहुलक्षी (Multipurpose) बनाता है। और समयानुसार इसका धारा आदि कर्मों के लिये उपयोग किया जा सकता है। टेबल के सिर की तरफ से ~7 इंच व्यास की गोलाकार अंदर की ओर ढलाव वाली एक ऐसी चक्रिका लगी होती है जिसके मध्य में एक छिद्र होता है और यह छिद्र टेबल के उसी स्थान के छिद्र के साथ संयुक्त होकर आरपार छिद्र बनाता है। यह चक्रिका इस टेबल को शिरोधारा के लिये उपयोगी बनाती है।

उपयोग–

(1) इस टेबल पर आतुर को 7 अवस्था में रखकर अभ्यंग कर सकते है।

(2) धारा कर्म के लिये।

(3) शिरोधारा के लिए।

(4) इस टेबल पर उद्वर्तन, मर्दन, लेपन, संवाहन इत्यादि कर्म किये जा सकते है।

(2) वाष्पस्वेदन यंत्र – सर्वांग में वाष्पस्वेद करने के लिये निर्मित यह लकड़ी का पेटी के आकार का, टेबल के सदृश ही उपकरण है। यह 6 फिट लम्बा, 2.5 फिट चौड़ा और 2 फिट ऊँचा लकड़ी का ऐसा टेबल है– जिसकी चारों बाजूएं लकड़ी से बंद है– जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। इसके ऊपरी सतह पर लकड़ी की एक जालीदार सछिद्र पट्टी लगी होती है। जिसका प्रत्येक छिद्र एक इंच चौड़ाई प्रमाण का बना होता है। सिर के तरफ एक शिरःफलक बना होता है। जो 9 इंच लम्बा और 10 इंच चौड़ा होता है। जालीदार स्तर को ढकने का फलक है जो सीधा और स्तर पर अंतर न रखते हुए उससे चिपटकर ढक देता है। वाष्पस्वेदन यंत्र के बाजू में दो कपाट होने चाहिये– जिनको बंद करने पर अन्दर के भाग को पूर्णत: बंद कर सके।

उपयोग– सर्वांग स्वेदन हेतु

3. अवगाह कोष्ठक– यह नहाने का टब सदृश होता है जो स्टील, या फायबरग्लास के द्वारा बना होता है। यह 5.5 फिट लम्बा 2.5 फिट चौड़ा तथा 1.5 फिट ऊँचा कोष्ठक होता है। इस कोष्ठक के तल में एक बहि:स्रोत (छिद्र) रखना चाहिये जिसको पूर्णत: बंद करने के लिये मजबूत डाट या ढक्कन होना चाहिये। कोष्ठक का अवगाहोत्तर द्रव इस स्रोत से बाहर निकाल दिया जाता है।

उपयोग– इस कोष्ठक को करीब 1 फुट क्वाथ आदि द्रव तक भरकर आतुर का विधिवत् अवगाह स्वेद करने हेतु।

4. तैलद्रोणि– यह द्रोणि एक ही काष्ठ से निर्मित होनी चाहिए अर्थात् इसमें संधि नहीं हो, क्योंकि संधिस्थान से स्राव (Leakage) होने की सम्भावना रहती है। द्रोणी 11 फिट 9 इंच लम्बा और 2 फिट 9 इंच चौड़ा होता है। इसके दोनों बाजू में 9–9 इंच का अंतर छोड़कर गोल आकार के दो दो हस्तक (Handles)–जिनका परिणाह 2 इंच का होता है। द्रोणी के अंदर का भाग दो उपभागों में विभक्त होता है। सामने का पुरो-विभाग अथवा शिरोविभाग (Anterior Compartment or Head Compartment) जिसकी लम्बाई 2.5 फिट और चौड़ाई 2.5 फिट होती है और दूसरा पश्चात् विभाग या शरीर विभाग (Posterior Compartment or Body Compartment) 7.5 फिट लम्बा और 2.5 फिट चौड़ा होता है इसके लिये सामने के बाजू से 2 फिट 4 इंच अंतर पर स्तर की चौड़ाई में छेद करने वाली एक रेखा पट्टिका और इसके 1.5 इंच के अंतर पर इस रेखा के समान्तर दूसरी रेखा पट्टिका होती है। इन दो रेखाओं के द्वारा शिरो विभाग और शरीर विभाग एक दूसरे से पृथक् हो जाते है। इस तरह इन रेखाओं से निर्मित उत्सेध युक्त स्थान पर आतुर को शिर रखने की सुविधा हो जाती है।

शिरोविभाग (Head compartment) पुन: दो छोटे विभागों में विभक्त होता है। एक विभाग जो सामान्य स्तर सिर की ओर जिसका परिमाण 11 इंच का होता है। दूसरा विभाग 17.5 इंच परिमाण का होगा जो विभागीय मध्य

नं. 6 और 8 की शलाकाएँ प्रयोग करते है आजकल रबर कैथेटर का उपयोग करते है। क्योंकि यह निरापद और सुविधाजनक होता है।

मेल कैथेटर– इन में भी अनेक आकार (मोटाई के अनुसार क्र. 1 से 12 तक) होते है। रबर कैथेटर का उपयोग अधिक सुविधाजनक है। सामान्यत: नं. 6, 7, 8 का उपयोग किया जाता है। ये दोनों, स्त्री और पुरुष की शलाकाएँ मुत्राशय में से मूत्र को निकालने के लिये तथा अनुवासन बस्ति हेतु प्रयुक्त की जाती है।

यूटराईन केन्युला– रूबिन टेस्ट केन्युला– (Uterine Canula- Rubin's Test Canula) –यूटराईन केन्युला, यह धातु की करीब 6 इंच लंबी नलिका होती है, जिसे गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे मेटल सिरींज से सलग्न कर गर्भाशय में औषधि पहुँचाने के काम में लाई जाती है। इसका अग्रभाग क्रमश: कुछ वक्र होता है और उसमें तीन या चार छिद्र होते है। रूबिन टेस्ट केन्युला स्त्रियों में वंध्यत्व परीक्षा में – फॅलोपियन ट्यूब के सोतोरोध की परीक्षा हेतु प्रयोग में लिया जाता है। इसके अग्रभाग में करीब 6 इंच लम्बी यूटराईन केन्युला ही होता है। जो 6 इंच लम्बे धातुनिर्मित रिक्त नेत्र से संलग्न होता है। पीछे के भाग में पकड़ने के लिये कर्णिकाएँ होती है। अग्रभाग में रबरकैप लगी होती है जो गर्भाशय में विशिष्ट अंतर तक प्रवेश कराने के लिये और उससे अधिक प्रवेश को रोकने के लिए कर्णिका के सदृश काम करती है। इसके अग्रभाग में वक्रनेत्र में 3 या 4 छिद्र होते है। इसके पीछे के नेत्र भाग में कर्णिका के पीछे एक कपाट मुद्रिका लगी होती है जिसे घुमाकर नेत्रस्रोत को बंद कर सकते है या खोल सकते हैं। इसके पीछे के स्रोत में औषधि से भरी हुई मेटल सिरींज या प्लास्टिक सिरींज जोड़ी जा सकती है।

8. कोष्ठ व अग्नि परीक्षा का महत्व (Importance of Koshta and Agni Parikshan)

अग्नि परीक्षा (Agni Pariksha)

आचार्य चरकानुसार दो मुख्य भागों में इस परीक्षा को विभक्त किया–

1. अभ्यवहरण शक्ति (Capacity of intake)
2. जरण शक्ति (Digistive Capacity)

अवर मध्यम व प्रवर अभ्यवहरण व जरण शक्ति अनुसार अग्नि की परीक्षा की जाती है।

अग्नि परीक्षा की महत्ता

1. अल्पाग्नि में सभी कर्म निषिद्ध है।
2. स्नेह की मात्रा का निर्धारण
3. विरेचन की मात्रा का निर्धारण
4. बस्ति द्रव्य का निर्माण
5. संसर्जन क्रम का निर्णय

कोष्ठ परीक्षा

कोष्ठ शब्द का अर्थ रचनात्मक व क्रियात्मक दोनों तरह से लिया जाना चाहिए। क्रियात्मक का अर्थ व्यक्ति के जन्म से मल जाने की दैनिक चर्या से है।

कोष्ठ के प्रकार

1. क्रूर कोष्ठ
2. मध्यम कोष्ठ
3. मृदु कोष्ठ

मृदु कोष्ठ के लक्षण

दिन में एकबार/ दो बार मलत्याग होना, मल पतला होना
आसानी से मलत्याग
मलत्याग में कम समय लगना
मलत्याग पश्चात कृत संज्ञा (संतोष)
क्षीर, उष्णजल, मांसरस, कांजी से मल प्रवृत्ति हो जाने की आदत

मध्यम कोष्ठ के लक्षण

दिन में एक बार मलत्याग होना
सुसंहत मल
मृदु कोष्ठ की तुलना में मलत्याग में अधिक समय लगना

क्रूर कोष्ठ के लक्षण

प्रतिदिन मलत्याग न होना
कठिन या शुष्क मल प्रवृत्ति
मलत्याग में अधिक समय लगना
मलत्याग पश्चात संतोष न होना

कोष्ठ निर्धारण की पंचकर्म में महत्ता

1. स्नेहन कर्म

मृदु, मध्यम व क्रूर कोष्ठ में क्रमश: 3,5 व 7 दिन स्नेहन का विधान है।

डल्हणानुसार

मृदु कोष्ठ

मृदु – 3 दिन
मृदुतर – 2 दिन
मृदुतम – 1 दिन

रेखा से सिरा की ओर ढलाव वाला (Sloping) होता है। इस शिरो विभाग में एक ऐसा गड्ढा होता है जो अर्ध वृत्ताकार और 10 इंच परिणाह का तथा 6 इंच गहराई का होता है। जिससे कि शिरोधारा करने पर गिरा हुआ द्रव ढलाव वाले स्तर से बहते हुए इसमें संचित हो जाये और पुनः प्रयोग के लिये इसका उपयोग किया जा सके। रेखापट्टिका से इस गड्ढे तक का स्तर ऐसा होता है कि जो गड्ढे की ओर ढलाव रखता हो।

शरीर विभाग (Body Compartment) का स्तर ऐसा होता है जो पाँव की ओर क्रमशः ढलाव लिये हुए 7.5 इंच का गहरा हो और अंत भाग में इसमें एक स्रोत (छिद्र) हो जिससे द्रव पदार्थ द्रोणी के बाहर एकत्रित किया जा सके। दो विभागों को विभक्त करने वाली रेखा पट्टिका ऊपरी भाग में गोल, श्लक्ष्ण और मध्य भाग में अंतर्नतोदर (Concave) गर्त वाली होती है। जिससे सुविधा पूर्वक सिर रखा जा सके। द्रोणी को रखने के लिये इसी प्रमाण के काष्ठ का अधिष्ठान (स्टैण्ड) जो 2.5 फिट ऊँचा और 10 फिट लंबा, तथा 2.5 फिट चौड़ा होता है जिसमें शिरो विभाग की ओर कुछ ज्यादा ऊँचाई और पाँव की ओर ढलाव हो।

द्रोणी हेतु उपयोगी काष्ठ– प्लक्ष, उदुंबर, सप्तपर्ण, वरुण, वट, देवदारु, बकुल, अशोक, असन, आम्र, चम्पक, बेल, निंब, खैर, अर्जुन, इत्यादि वृक्षों के काष्ठ प्रशस्त माने गये हैं। वर्तमान में प्रायः एक काष्ठ में निर्माण करने के लिये इतना बड़ा काष्ठ उपलब्ध नहीं होती है अतः आजकल फायबरग्लास की बनी जो उष्णसहत्व में उत्तम और वजन में हल्का होता है का उपयोग किया जा सकता है।

उपयोग– द्रोणी का उपयोग शिरोधारा पिझिचिल तथा अन्य अभ्यंगादि कर्म के लिये होता है शिरोधारा हेतु पुरोविभाग का उपयोग और पिझिचिल हेतु पश्चात् विभाग में करते हैं।

5. **धारा टेबल**– स्नेहधारा और शिरोधारा के लिये द्रोणी के समान ही धारा टेबल का प्रयोग किया जाता है, परन्तु यह द्रोणि के समान ही उपयोगी, अल्प लागत में निर्मित और सुविधाजनक होता है। जो 7 फिट लम्बा, 2.5 फिट चौड़ा, 2.5 फिट ऊँचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजू में किनारों से 3 इंच ऊँचाई की आलवाल होती है। जिससे टेबल पर गिरा हुआ द्रव टेबल से बाहर नहीं जा सकेगा। इसके सतह पर सिर की ओर से 2.5 फिट अंतर पर एक मध्योन्नतपट्टि का जो टेबल को दो भागों में विभक्त करती है। ऊपर का शिरोभाग (Head Compartment) छोटा भाग जो शिरोधारा के काम में लाया जाता है– और दूसरा शरीर भाग (Body Compartment) जो पिझिचिल के लिये काम में लाया जाता है। शिरोविभाग में 6 इंच व्यास का वृत्ताकार ढलाव से युक्त–अतर्नतोदर से युक्त एक चक्रिका होती है जिसके द्वारा शिरोधारा का द्रव छिद्र द्वारा नीचे रखे हुए पात्र में संचित हो जाता है शरीर विभाग का पाव की ओर ढलाव होना चाहिये और अंतभाग में एक छिद्र होता है जिससे सभी द्रव एकत्रित किया जा सकते है। शिरोधारा के लिये शिरो विभाग (Head Compartment) के ऊपर शिरोधारा स्टेण्ड पर एक तार या मजबूत डोरी बाधकर उससे धारापात्र इस प्रकार लटकाते कि वह आतुर के शिर से 4 अंगुल अंतर से धारा गिरा सके।

(6) **धारा पात्र**– शिरोधारा के लिये उपयोगी पात्र को धारापात्र कहा जाता है। यह पीतल, एल्यूमीनियम, स्टील, मिट्टी या काष्ठ में से या किसी अन्य धातु का होता है। यह एक ऐसा पात्र है जिसका मुख चौड़ा होता है, नीचे की ओर गोलाई में सिकुड़ा होता है और गहराई में 6 इंच का होता है। इसमें 2 प्रस्थ या लगभग 2 लीटर द्रव की क्षमता कम से कम होती है। इस पात्र के नीचे तल भाग में–कनिष्ठिका अंगुली का अग्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग 2 सें. मि. परिणाह का छिद्र जो बिलकुल मध्य में होता है। इस तल भाग पर एक वर्तुलाकार सिकुड़ा लकड़ी का या धातुनिर्मित चक्र के आकार का– मध्यभाग में छिद्रवाला पात्र उलटा कर ऐसा रखा होता है जिससे कि पात्र का

छिद्र और धारापात्र का छिद्र ठीक समांतर दिशा में आ जावे। इस पात्र के स्थान पर नारियल का बराबर आधा कटा हुआ कवच भी उपयोग कर सकते हैं। पात्र के या नारियल कवच के किनारे स्निग्ध और धारापात्र में ठीक तरह अवकाश न रखते हुए बैठ जायें इसका ध्यान रखना चाहिए। अब उलटाकर रखे हुए पात्र के छिद्र में से कपड़े की या रुई की दृढ़ वर्ति इस तरह बनी होती है ताकि वर्ति के ऊपर का भाग पात्र के छिद्र को सम्पूर्णतः बंद न करे– अपितु जिसके द्वारा थोड़ा थोड़ा और सतत धारा युक्त द्रव छिद्र में से पूर्ति हेतु उतर सके। वर्ति का दूसरा भाग धारा पात्र के छिद्र से उतरकर पात्र के बाहर आतुर सिर से करीब 4 इंच ऊँचाई तक लटकता रहना चाहिये। वर्ति को अधिस्थान में छोटी सी लकड़ी की पट्टी डाट के स्वरूप में लगी होती है जिससे वह छिद्र द्वारा बाहर गिर न सके।

उपयोग– शिरोधारा हेतु

(8) **शिरोबस्ति यंत्र**– शिरोबस्ति यंत्र यह चमड़े या रेग्जीन का टोप के आकार का गोल–दोनों बाजू से बंद पट्टु है, साधारणतः 18 इंच से 24 इंच के परिणाह का आतुर के सिर की मापनुसार बनाना चाहिये। इसका परिणाह तल की ओर से ऊपर शिखर की ओर क्रमशः कम होकर करीब 3 इंच कम होता है। अर्थात् तल में 24" का परिणाह हो तो शिखा में 21" का परिणाह रखें इसकी ऊँचाई 12 अंगुल (9 इंच) रखनी चाहिये। सामने की ओर एक पट्टा रखना चाहिये जो कमकर गोलाई का अंतर कम करने के लिये और छोटे शिरवाले व्यक्ति पर इसे संनद्ध करने के लिये उपयोग में लाया जा सके। चर्मपट्ट का चमड़ा या रेग्जीन दृढ़, स्निग्ध, श्लक्ष्ण और छिद्ररहित होना चाहिए।

(9) **बस्तिनेत्र**– यह धातु निर्मित गोल–दोनों तरफ से खुले मुख वाली नलिका है– जिसकी लम्बाई लगभग 7 इंच होती है। इसके मूल भाग में छिद्र लगभग 6 एम.एम. व्यास का और अग्र भाग का छिद्र 2.5 से. मी. व्यास का होता है। अग्र–भाग से 4 इंच के अंतर पर एक कर्णिका रखनी चाहिये जो नेत्र को गुद में अधिक प्रवेश से रोकती है। मूल भाग पर प्रथम एक कर्णिका और उसके 1 इंच के अंतर पर दूसरी कर्णिका होती है। इन दोनों के बीच बस्तिपुटक को अच्छी तरह बांधने हेतु होती है।

(10) **उत्तर बस्ति यंत्र एवं उपयोगी उपकरण**– वर्तमान में उत्तर बस्ति के लिये व्होलसेलम फोर्सेप्स (Volsellum forceps), सिम्स युटराईन साउंड (Sims uterine sound), ब्लेंडर साउंड फिमेल और मेल कैथेटर (रबर या मेटल), युटराईन केन्युला (Uterine canula) या रुबीनटेस्ट केन्युला (Rubin's Test Canula) और मेटल सिरिंज इनका उपयोग करते हैं।

व्होलसेलम फोर्सेप्स में तेज दांत लगा होता है जो यंत्र को दबाने पर गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) को दृढ़ पकड़ने के काम में आता है इससे अवयव पर क्षत नहीं होता। यह 20 से. मि. (8 इंच) लंबा सीधा या कुछ वक्राकार का होता है। युटराईन साउंड यह एक सीधे नेत्राकार की शलाका है जिसका उपयोग गर्भाशयग्रीवा के स्रोत को खुला करने के लिये तथा गर्भाशयमार्ग के अन्वेषणार्थ किया जाता है।

ब्लेडर साउंड (Bladder Sound) – यह मूत्राशय शलाका है जो अलग–अलग आकार (भिन्न–भिन्न मोटाई) की होती है। ये साउंड पुरुष और स्त्रियों में दोनों में उपयोग किये जा सकते हैं। इनकी लम्बाई सामान्यतः 25 सें. मि. (10 इंच) के लगभग होती है।

फीमेल कैथेटर– (Female Catheter) ये शलाकायें धातु की, काँच की, प्लास्टिक की, रबर की बनी होती है। कांच और धातु की शलाकाएँ अग्रभाग में कुछ वक्र होती है। इनमें एक छिद्र (Channel) होते हैं। सामान्यतः

मध्यम कोष्ठ

मध्यम– 4 दिन

मध्यम तर– 5 दिन

मध्यम तम– 6 दिन

क्रूर कोष्ठ

क्रूर– 7 दिन

क्रूरतर– 8 दिन

क्रूरतम –9 दिन

2. वमन कर्म– मृदु, मध्यम व क्रूर कोष्ठ में क्रमशः मृदु, मध्यम व तीक्ष्ण द्रव्य से वमन देना चाहिए।

3. विरेचन कर्म– वमन समान ही विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कोष्ठानुसार करना चाहिए।

अतः कोष्ठ परीक्षा का पंचकर्म चिकित्सा में महत्वपूर्ण योगदान है। इस परीक्षा के न करने पर विभिन्न उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

✖ ✖ ✖

अध्याय-2

पूर्वकर्म–स्नेहन
(Poorva Karma-Snehana)

प्रत्येक पंचकर्म विधि को तीन चरणों में सम्पादित किया जाता है।

1. पूर्व   2. प्रधान   3. पश्चात् कर्म

"त्रिविध कर्म– पूर्वकर्म, प्रधानकर्म पश्चात्कर्मेति।" (सु. सू. 5/3)

पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म ये तीन कर्म मिलकर पंचकर्म को सफल बनाते हैं–

पूर्वकर्म

पंचकर्म द्वारा जिस व्यक्ति का शोधन करना है, उसकी तैयारी के लिए जो कर्म किए जाते हैं उन्हें पूर्वकर्म कहते हैं।

संशोध्यस्य पाचन–स्नेहन–स्वेदनानि पूर्वकर्म। (सु.सू. 5/3) डल्हण टीका

पूर्व कर्म के निम्न तीन प्रकार (Types of Poorva Karma)

(1) पाचन   (2) स्नेहन   (3) स्वेदन

(1) **पाचन**– आहार के ठीक प्रकार से पाचन हेतु तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधियों द्वारा यह पाचन कर्म किया जाता है। जैसे– पंचकोल चूर्ण, हिंग्वादि वटी, अग्नितुण्डी वटी, चित्रकादि वटी। क्योंकि पंचकर्म हेतु निराम अवस्था आवश्यक है जिससे आम दोष को पाचन द्वारा नष्ट करते है तथा अगले कर्म स्नेहन हेतु उपयुक्त अग्नि प्रदीप्ति एवं पाचन शक्ति बढ़ सके।

(2) **स्नेहन**– यह पंचकर्म का पूर्वकर्म है तथा कुछ रोगों में यह प्रधान कर्म के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। घृत, तैल, वसा, मज्जा चार उत्तम स्नेह हैं। स्नेह का प्रयोग बाह्य (अभ्यंग आदि) तथा आभ्यांतर (स्नेहपान) दोनों प्रकार से किया जाता है। स्नेहन द्वारा शरीर में मृदुता आती है। जिससे दोष अपने स्थान से अलग हो जाते हैं। वमन एवं विरेचन में स्नेहपान के द्वारा (आभ्यान्तर) दोषों को उत्क्लिष्ट किया जाता है तथा अन्य जो स्नेहपान द्वेष करते हो उन्हें स्नेह प्रविचारणा (भोजन आदि के साथ स्नेह मिश्रण करके देना) द्वारा स्नेहन किया जाता है।

(3) **स्वेदन** – जिस क्रिया द्वारा शरीर से स्वेद (पसीना) निकाला जाता है। वह स्वेदन है। इससे शरीर में जकड़न, भारीपन तथा शीतता दूर होती है। स्नेहन से जो दोष उत्क्लिष्ट होते है उन्हे स्वेदन द्वारा पृथक कर प्रधान कर्म के द्वारा शरीर से बहार निकाल देते हैं।

वमन–विरेचन बस्ति नस्य सिरामोक्षणानि प्रधानकर्म:

पेयाद्यन्नसंसर्जन पश्चात् कर्म। (सु. सू. 5/3 डल्हण टीका)

↓

पूर्व कर्म	प्रधान कर्म	पश्चात कर्म
↓	↓	↓
पाचन	वमन	संसर्जन क्रम
स्नेहन	विरेचन	रसायनादि प्रयोग
स्वेदन	निरूह	शमन चिकित्सा
	अनुवासन	
	नस्य	
	(या)	
	वमन	
	विरेचन	
	निरूह	
	नस्य	
	रक्त मोक्षण	

1. स्नेह व स्नेहन की व्युत्पत्ति व परिभाषा (Etymology and definition of Sneha and Snehana)

व्युत्पत्ति– स्निह् में 'घञ्' प्रत्यय से स्नेह यह (पुल्लिंग) शब्द बनता है जिसका अर्थ प्रेम, तैलादि, रस भेद से है।

'स्निह' धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से 'स्नेहन' शब्द बनता है। (वाचस्पत्यम)

परिचय (Introduction)– स्नेह का सामान्य अर्थ है–स्निग्ध तथा वह प्रक्रिया जिसके द्वारा स्निग्ध किया जाता है वह स्नेहन कहलाती है।

राजनिघण्टुकार ने 'तैलादिमर्दन' एवं 'अभ्यंग' अर्थ में 'स्नेहन' शब्द ग्रहण किया है।

परिभाषा (Definition)

स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्। (च. सू. 22/11)

जिस क्रिया द्वारा शरीर में चिकनापन (स्निग्धता), दोषों का विलयन होकर, स्त्रवणशीलता, कोमलता, जलीय घटकों का प्रमाण बढ़ कर क्लेदता (चिपचिपापन) उत्पन्न होती है वह स्नेहन कहलाता है।

वमनादि कर्मों का सम्यक् निष्पादन के लिए उन कर्मों के पहले स्नेहन कर्म करना परम् आवश्यक होता है यह पंचकर्म का पूर्वकर्म है।

किन्तु वातव्याधि रोगों में किसी रोग की चिकित्सा के प्रयोजन हेतु जब स्नेहन का प्रयोग किया जाता है तो प्रधान कर्म के रूप में माना जाता है।

लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।

स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक्॥ (च. सू. 22/4)

प्रधान कर्म के रूप में आचार्य चरक ने षड् उपक्रम (6 प्रकार की चिकित्सा) के अन्तर्गत स्नेहन की गणना करके इसकी महत्ता को निर्देशित किया है।

शोधन पूर्व (वमन–विरेचन आदि), स्वस्थ एवं रोगी में तथा बृंहण या शमन हेतु स्नेहपान कराया जाता है। यह दोषानुसार या रोगानुसार अच्छ स्नेह या औषध संस्कार युक्त स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) द्वारा स्नेहपान किया जाता है।

2. (a) योनी/उत्पत्ति भेद से स्नेह (Snehayoni Sthavara and Jangama)

तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः।

कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः॥

स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः स्तथा स्युः.........................। (च. सू. 13/10–11)

स्थावर स्नेह– चरक ने 18 वनस्पतियों से स्थावर स्नेह के स्रोत हैं। जैसे–

1. तिल	2. चिरौंजी	3. अभिषुक	4. बिभीतक	5. चित्रा	6. अभया
7. एरण्ड	8. मधुक	9. सर्षप	10. कुसुम्भ	11. बिल्व	12. भल्लातक
13. मूली	14. अतसी	15. अंकोठ	16. अखरोट	17. सहिजन	18. करञ्ज।

इनके अतिरिक्त मिर्ची, चालमोगरा (तुवरक) जयपाल, मालकांगनी, बादाम, नीम, जैतून, नीलगिरि, लवंग, कोकम, मूंगफली आदि द्रव्यों से भी तेल प्राप्त होता है।

सुश्रुत ने द्रव्यों के गुण कर्मानुसार अनेक वर्ग बनाये है, जैसे–पंचकर्म हेतु उपयोगी–वमनोपयोगी, विरेचनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी तथा रोगानुसार उपयोग जैसे– दुष्ट व्रण, कुष्ठ, मूत्रावरोध, अश्मरी, प्रमेह आदि (सु. चि. 31)

जाङ्गम स्नेह– जो स्नेह प्राणियों से प्राप्त किया जाता है, उसे जाङ्गम स्नेह कहते हैं। जैसे–1. मछली का तेल, 2. गाय–भैंस–बकरी से प्राप्त घृत, 3. बकरा, हिरण, वराह आदि की वसा और मज्जा।

स्नेहों के प्रकार (Types of Sneha)

स्नेहों के अनेक भेद होते हैं। यथा

योनी/उत्पत्ति भेद से दो प्रकार–	(a) स्थावर	(b) जाङ्गम।		
उपयोग भेद से दो प्रकार–	(a) बाह्य और	(b) आभ्यन्तर		
संयोग/ मिश्रण भेद से तीन प्रकार–	(a) यमल	(b) त्रिवृत और	(c) महास्नेह	
कर्म भेद से तीन प्रकार–	(a) बृंहण	(b) शमन और	(c) शोधन	
संज्ञा भेद से तीन प्रकार–	(a) अच्छ	(b) सद्यः स्नेह	(c) पंचप्रासृतिकी पेया।	
पाक भेद से तीन प्रकार–	(a) मृदु	(b) मध्यम और	(c) खर।	
मात्रा भेद से चार प्रकार–	(a) ह्रसीयसी	(b) ह्रस्व	(c) मध्यम और	(d) उत्तम।

(b) स्नेह द्रव्यों के गुण (Properties of Sneha Dravya)

पृथिव्यम्बु गुण भूयिष्ठः स्नेहः (सु. सू. 41/11)

स्नेहन द्रव्यों में जलीय और पार्थिव गुणों की अधिकता होती है।

इनमें निम्न गुण होते हैं जो शोधनकर्म में उपयोगी है–

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलं।

प्रायो मंदं मृदु च यत् द्रव्यं स्नेहनमतम्॥ (च. सू. 22/15)

1. द्रव– **द्रवः प्रक्लेदनः प्रोक्तः।** (सु. सू. 46/527)

यस्य विलोडने शक्तिः स द्रवः॥ हे.॥

जो गुण क्लेदन का कार्य करता है उसे द्रव कहते है। इस गुण से शरीर में तरलता आती है जिससे दोषों का विलयन, स्थानच्युति, स्रावण एवं प्लवन होता है।

2. सूक्ष्म– **सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः॥** (सु. सू. 46/531)

यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः। हे.॥

हेमाद्रि ने सूक्ष्म को विवरणशील कहा है अर्थात् घटकों को अलग–अलग करना। इस गुण के कारण यह सूक्ष्म छिद्रों में प्रवेश कर जाता है और अपना कार्य करता है।

3. सर– **सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः॥** (सु. सू. 46/529)

यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः,॥ हे.॥

जिसमें अनुलोमन होता है वह सर है। इस गुण के कारण सरकने वाला तथा प्रेरणशील होता है।

4. स्निग्ध– **स्नेहमार्दवकृत स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा॥** (सु. सू. 46/523)

इसका सामान्य अर्थ चिकनाहट होता है हेमाद्रि के अनुसार यह क्लेदन कारक है इसके कारण स्नेहद्रव्य शरीर में बल, वर्ण, स्नेह और मार्दव कारक होता है।

5. पिच्छिल– **पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलोगुरुः॥** (सु. सू. 46/524)

यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः। हे.

इसका सामान्य अर्थ चिपचिपापन है। बल्य, गुरु आयुष्य, कफवर्धक एवं लेपन कारक होता है।

6. गुरु– **सादोपलेप बलकृत् गुरुस्तर्पण बृंहणः।** (सु. सू. 46/525)

यस्य द्रव्यस्य बृंहणे शक्तिः स गुरुः हे.॥

सामान्य अर्थ भारीपन है। वातनाशक, कफकर, देहवृद्धिकर होता है। इसका कर्म साद, उपलेप, बल, तर्पण एवं बृंहणकृत है।

7. शीत – **ह्लादनः स्तंभनः शीतः मूर्च्छा तृट् स्वेददाहजित।** (सु. सू. 46/522)

स्तंभने हिमः॥ हे.॥

आनंदकर, उत्साहवर्धक, मूर्च्छाहरण एवं दाह शामक होता है।

8. मंद गुण – **मंदो यात्राकरः स्मृतः॥** (सु. सू. 46/529)

यस्य शमने शक्तिः स मंदः॥ हे.॥

इस गुण के कारण स्नेह द्रव्य शरीर में धीरे–धीरे प्रवेश करते हैं और शमन कार्य करते हैं। अरुण दत्त ने इसे चिरकारित्व कहा है।

9. मृदु गुण – **शिथिलत्वकरत्वं मृदुत्वं॥ अ. ह.॥**

यस्य द्रव्यस्य श्लथने शक्तिः स मृदुः।हे.॥

इस गुण कारण स्नेहद्रव्य शरीर के अवयवों को कोमल बनाते है। इसका कार्य शिथिलीकरण है।

स्नेह द्रव्यों के गुणों का भौतिक संगठन तथा कार्य

क्र.	गुण	भौतिक संगठन	शरीर कार्य
1.	स्निग्ध	आप्य	स्नेहन, आह्लादन, क्लेदन, विष्यदन
2.	गुरु	पार्थिव	स्थैर्य, संघात, बल, उपचयादि।
3.	शीत	आप्य वायव्य	ह्लादनादि, वैशद्य, लाघव,
4.	मृदु	नाभस	मार्दवता, शैथिल्यकर, लाघवकर।
5.	द्रव	आप्य	प्रक्लेदन, आलोडन।
6.	पिच्छिल	आप्य	बल, संधात, जीवन, गौरवकर।
7.	सर	आप्य आग्नेय	स्नेहनादि, पचन, अनुलोमन
8.	मंद	आप्य	शमन आदि
9.	सूक्ष्म	नाभस	अति सूक्ष्म अवयवों में प्रवेश

(c) स्नेहोपग द्रव्य (Snehopag Dravya)

मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति।

(च. सू. 4/13/21)

मुनक्का, मुलहठी, मधुपर्णी (गिलोय), मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती शालपर्णी ये दस वनस्पतियां स्नेहोपग होती है।

3. (a) घृत, तैल, वसा एवं मज्जा के सामान्य गुण व उपयोगिता (General knowledge of Ghrita, Taila, Vasa, Majja with specific utility and actions)

उत्तम गुणानुसार स्नेह भेद :–

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।

एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥ (च. सू. 13/13)

चार उत्तम स्नेह

घृत, तैल, वसा एवं मज्जा ये चार स्नेह सभी स्नेहो में उत्तम माने जाते हैं और इन चारों में घृत सर्वोत्तम होता है क्योंकि यह संस्कार का अनुवर्तन करता है।

घृत के गुण–

घृत पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितं।

निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्ण प्रसादनं॥ (च. सू. 13/14)

(1) यह पित्त व वात शामक है।

(2) रस, शुक्र और ओज के लिए हितकारी होता है।

(3) दाहशामक, कोमलताकारक, स्वर–वर्ण प्रसादक होता है।

तैल के गुण–

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।

त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनि विशोधनम्॥ (च. चि. 13/15)

तैलंतु आग्नेयं उष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं

गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधा मार्दवं मांस स्थैर्य वर्ण बलकरं चक्षुष्यं....। (सु. सू. 45/112)

वातनाशक– कफ का वर्द्धन न करने वाला, बलवर्धक होता है।

उष्ण, त्वचा के लिए हितकारी, देहस्थिरता कारक व योनिशोधक होता है।

वसा के गुण–

विद्धभग्नाहत भ्रष्टयोनि कर्णशिरोरुजि। पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा॥ (च. सू. 13/16)

वातातपसहा ये च रुक्षा भाराध्व कर्षिता। संशुष्क रेतोरुधिरा: निष्पीत कफमेदस:॥

अस्थि संधिसिरा स्नायु मर्मकोष्ठ महारुजः। बलवान् मारुतो येषां खानिचावृत्य तिष्ठति॥

महच्चाग्नि बलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः। तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते॥

(च. सू. 13/47 से 49)

(1) विद्ध होने पर, काण्डभग्न, संधिभग्न होने पर, चोट लगने पर यह लाभदायक होती है।

(2) कर्णशूल, शिरोवेदना में लाभदायक होती है।

(3) पुरुषार्थ वृद्धि हेतु, शरीर स्निग्धता हेतु उपयोगी है।

(4) जो लोग अधिक व्यायाम करते हैं अधिक धूप में घूमते है, अति रुक्ष, अधिक भार उठाने से क्षीण तथा अस्थि, संधि, मर्म कोष्ठ में तीव्र रुजा वाले। उनमें भी लाभदायक है।

मज्जा के गुण–

बलशुक्र रसश्लेष्म मेदो मज्ज विवर्धनः।

मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हितः॥ (च. सू. 13/17)

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मरा स्नेह सेविनः।

वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः॥ (च. सू. 13/50)

(1) शरीर में बल, वीर्य, रस, कफ, मेद की वृद्धि करती है।

(2) मज्जा के प्रयोग से संधियों में बल आता है, शरीर का स्नेहन होता है।

(3) तीक्ष्ण अग्नि, अधिक श्रम, घस्मर (अधिक खाने वाले), वात एवं क्रूर कोष्ठ हेतु उत्तम है।

आधुनिक स्नेह द्रव्य

आधुनिक मतानुसार स्नेह द्रव्य 3 प्रकार के होते हैं–

1. स्थिर तैल (Fixed oil)–जो वायु के सम्पर्क में आने पर उड़नशील (Non-Volatile) नहीं होते है तथा अपने गंध व गुण युक्त रहते है। अर्थात् अपनी स्थिति स्थिर बनाए रखते है, उदाहरण–मूंगफली, बादाम, जैतून, एरण्ड, तिल तैल आदि।

2. अस्थिर तैल (Volatile oil) – ये स्वभाव से उड़नशील (Volatile) होते है तथा वायु के सम्पर्क में आते ही इनके गंध व गुण कम हो जाते है। जैसे– शतपुष्पा तैल, लवंग, दालचीनी, यूकेलिप्टस, पिपरमेंट आदि तैल।

3. मिश्रित तैल (Compound oil) – ये उपर्युक्त दोनों प्रकार के तैलों से मिलकर बने होते हैं।

(b) संयोग/मिश्रण भेद से स्नेह (Yamak, Trivrit and Maha Sneha) –

द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकः त्रिवृतो महान्। (अ. ह. सू. 16/4)

विभिन्न स्नेहों को एक से मिलाकर प्रयोग किया जाता है। और उनके मिश्रण को पृथक्–पृथक् नाम से जाना जाता है। जैसे– दो स्नेहों का मिश्रण यमक कहलाता है, तीन का त्रिवृत् और चार का मिश्रण महास्नेह कहा जाता है।

(i) यमकस्नेह– (दो स्नेहों का मिश्रण)

1. सर्पि+तैल। 2. सर्पि+वसा। 3. सर्पि+मज्जा
4. तैल+वसा। 5. तैल+मज्जा। 6. वसा+मज्जा।

(ii) त्रिवृतस्नेह– (तीन स्नेहों का मिश्रण)

1. सर्पि+तैल+वसा। 2. सर्पि+तैल+मज्जा। 3. तैल+वसा+मज्जा। 4. सर्पि+वसा+मज्जा।

(iii) महास्नेह– (चारों स्नेहों का मिश्रण) सर्पि+तैल+वसा+मज्जा

4. Digestion, Absorption and Metabolism of Lipids/Fat

Dietary fats are classified into two types-

(1) Saturated fats

(2) Unsaturated fats
- Monounsaturated fats
- Poly unsaturated fats
- Trans fat.

Digestion of Lipids-

Lipids are digested by lipolytic enzymes.

In the Mouth

Saliva contains lingual lipase enzyme which is secreted by lingual glands of mouth and swallowed along with saliva. It digests milk fats (Per-emulsified fats). It hydrolyzes triglycerides into fatty acids and di-acylglycerol.

In The Stomach

Gastric lipase or tributyrase is the lipolytic enzyme present in gastric juice. It is inactive at a pH below 2.5 and it becomes active only when the pH is between 4 and 5. gastric lipase or tributyrase which acts on tributyrin (butter fat) and hydrolyzes it into fatty acids and glycerols.

In the Intestine-
- Emulsification of fat by bile salts
- Hydrolysis of fat by pancreatic and intestinal lipolytic enzymes.
- Acceleration of fat digestion by micelle formation

Almost all the lipids are digested in the small intestine because of the availability of bile salts, pancreatic lipolytic enzymes and intestinal lipase.

1. Functions of bile salts-

Emulsification of fats- Emulsification is the process by which the fat globules are broken down into minute droplets and made in the from of a milky fluid called emulson. Emulsification increases the surface area of these lipids making them much easier to digest.

The lipolytic enzymes of GI tract cannot digest the fats directly because the fats are insoluble in the water due to the surface tension. The bile salts emulsify the fat by reducing the surface tension of the fats due to their detergent action. Because of the reduction in surface tension, the lipid granules are broken into minute particles which can be easily digested by lipolytic enzymes.

2. Hydrolysis of fat droplets by pancreatic and intestinal lipolytic enzymes-

(i) Pancreatic lipolytic enzymes-

The lipolytic enzymes present in pancreatic juice are pancreatic lipase, cholesterol ester hydrolase, phospho-lipase A and phospho-lipase B.

Pancreatic Lipase- Pancreatic lipase is a powerful lipolytic enzyme. It hydrolyses the triglycerides into monoglycerides and fatty acids. The activity of pancreatic lipase is accelerated in the presence of bile. The optimum pH required for activity of this enzyme is 7 to 9.

Cholesterol ester hydrolase- Cholesterol ester hydrolase or cholesterol esterase converts cholesterol ester into free cholesterol and fatty acid by hydrolysis.

Phospholipase A- It is activated by trypsin. Phospholipase A digests phospholipids namely lecithin and cephalin and converts them into lysophospholipids. Lecithin into lysolecithin and cephalin into lysocephalin.

Phospholipase B- Phospholipase B is also activated by trypsin. This enzyme converts the lysophospholipids (lysolecithin and lysocephalin) to phosphoryl choline and free fatty acids.

Bile salt activated lipase- This enzyme has a weak lipolytic action than pancreatic lipase. But it hydrolyses a variety of lipids like phospholipids, cholesterol esters and triglycerides. Since it is activated bile salt it is known as bile salt-activated lipase.

(ii) Intestinal lipase-

Intestinal lipase acts on triglycerides and converts them into fatty acids. Their effects though minor but similar to that of pancreatic lipase.

3. Acceleration of fat digestion by micelle formation-

The hydrolysis of triglycerides is highly reversible, therefore accumulation of monoglycerides and free fatty acids in the vicinity of digesting fats quickly blocks further digestion. This problem is solved by the property of bile salts to from micelle. The micelle are small water soluble cylindrical disc shaped particles. Each micelle is composed of a central fat globule surrounded by about 30 molecules of bile salts in such a way that their lipid soluble non-polar ends are in the central fat globule and water soluble polar ends are out to form the outer covering of micelle. The Monoglycerides and free fatty acids released from the digestion of fat are quickly incorporated into the central fatty portion of the micelles forming, which are known as the mixed micelle. In this way bile salts accelerate the fat digestion by allowing the lipolytic action to continue.

Mixed Micelle

Absorption of Fats.

Most of the fat absorption occurs in the duodenum, almost all the digested lipids are totally absorbed by the time when the chyme reaches the mid jejunum. Absorption of fats is accomplished by following steps.

1. Transportation as micelles to the brush border membrane-

The micelles is formed not only to accelerate the fat digestion, but are also essential for the fat abosrption as explained.

The insolubility of fat globules prevents their diffusion through the aqueous medium of the intestinal lumen to reach the brush border. This problem is solved by the bile salts by forming the micelle. The outer surface of micelle is formed by water- soluble polar ends of bile salts, which helps the micelle to diffuse through the aqueous medium to reach the brush border membane. Thus, the bile salt micelle acts as a transport vehicle for the products of fat digestion.

2. Diffusion of lipids across the enterocyte cell membrane.

Once the micelle comes in contact with the cell membrane, the monoglycerides, free fatty acids, cholesterol and fat soluble vitamins diffuse passively at a rapid speed through the enterocyte cell membrane to the interior of the cell, leaving bile salts in the intestinal lumen. Thus the rate limiting step in lipid absorption is the formation and migration of the micelles from the intestinal chyme to the microvilli surface. It is important to note that the bile salts must be present in certain minimum concentration called critical micellar concentration before micelles are formed.

The bile salts released from micelle after diffusion of their associated lipids, are absorbed in the terminal ileum by a Na^{+} dependent active transport process.

3. Transport of lipids from inside the enterocytes to the interstitial space-

Once inside the cell, the end product of fat digestion enter the interstitium by two mechanisms.

(i) Diffusion across the basal border of enterocyte-

The small chain fatty acids with less than 12-14 carbon atoms are able to diffuse across the basal border of enterocytes to enter the interstitium.

(ii) Formation and excretion of chylomicrons from enterocytes by exocytosis- The large chain fatty acids, cholesterol and lysophosphatides, enter the smooth endoplasmic reticulum, where they are reconstituted.

2 - Monoglycerides are combined with fatty acids to produce triglycerides,

Lysophosphatides are combined with fatty acids to form phospholipids, and

Cholesterol is re-esterified.

The re-formed lipids coalesce to form a small lipid droplets (about 1 nm in diameter) called chylomicrons which are lined by β- Lipoproteins synthesized. The chylomicrons are then excreted into the interstitum by exocytosis from the basolateral membrane of enterocyte. Covering of β-lipoproteins is essential for the exocytosis to occur. Therefore, in the absenee of β-lipoprotein, exocytosis will not occur, and the enterocytes become engorged with lipids.

4. Transport of lipids into circulation-

After exiting the enterocytes (i. e. in the interstitum), the chylomicrons merge into larger droplets that vary in size from 50-50nm, depending on the amount of lipid being absorbed. From the interstitium the lipids diffuse into the lacteals, from which they enter the lymphatic circulation and via thoracic duct gain access into the blood circulation.

Fat metabolism

Fat is synthesised from excess dietary carbohydrates and proteins, and stored in the fat depots, i. e. under the skin, in the omentum or around the kidneys.

Fats that have been digested and absorbed as fatty acids and glycerol into the lacteals are transported via the cisterna chyli and the thoracic duct to the bloodstream and so, by a circuitous route, to the liver. Fatty acids and glycerol circulating in the blood are used by the cells of organs and glands to provide energy and in the synthesis of some of their secretions. In the liver some fatty acids and glycerol are used to provide energy and heat, and some are recombined forming triglycerides, the form in which fat is stored. A triglyceride consists of three fatty acids chemically combined with a glycerol molecule. When required, triglycerides are converted back to fatty acids and glycerol and used to provide energy. the end products of fat metabolism are energy, heat, carbon dioxide and water.

Fatty acids and energy release

When body tissues are deprived of glucose, as occurs in prolonged fasting, starvation, energy-restricted diets or during strenuous exercise, the body uses alternative energy sources, mainly fat stores. Fatty acids may be converted to acetyl coenzyme A, and enter the energy production pathway in that form. One consequence of this is accumulation of ketone bodies, which are produced in the liver from acetyl coenzyme A when levels are too high for processing through the citric acid cycle. Ketone bodies then enter the blood and can be used by other body tissues, including the brain (which is usally glucose dependent) as a source of fuel. However, at high concentrations, ketone bodies are toxic, particularly to the brain. Ketone bodies include acetone and some weak organic acids. Normally levels are low because they are used as soon as they are produced. When production exceeds use, in the situations mentioned above, levels rise causing ketosis. Ketosis is associated with acidosis, which can lead to coma or even death is severe. Excretion of excess ketone bodies is via.

(a) The urine (ketonuria)

(b) The lungs, giving the breath a characteristic sweet smell of acetone of 'pear drops'

In ketosis, compensation is required to maintain acidbase balance. This is achieved by buffer systems that excrete excess acid (hydrogen ions) by the lungs, through hyperventilation, or kidneys. In health, ketosis is self-limiting and ketone body production stops

when fasting or exercise ceases. Ketoacidosis is associated with uncontrolled type 1 diabetes mellitus.

Glycerol and energy release

The body converts glycerol from the degradation of fats into one of the inermediary compounds produced during glycolysis, and in this form it enters the central metabolic pathways.
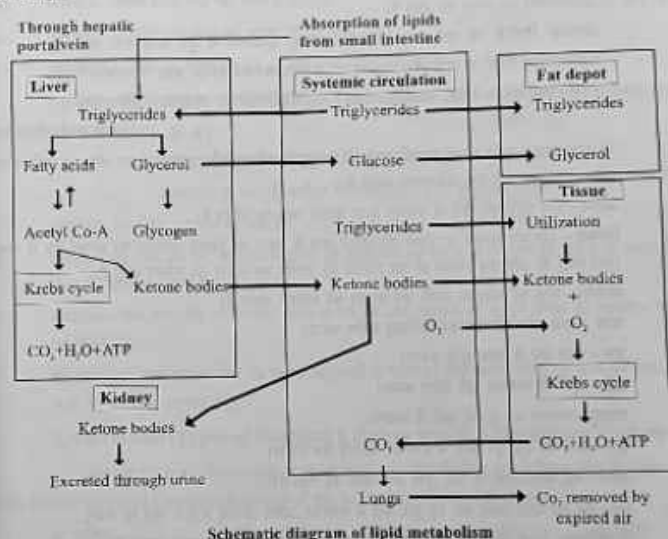
Schematic diagram of lipid metabolism

5. अच्छस्नेह एवं स्नेह की प्रविचारणा (Accha and Pravicharana of Sneha)

अच्छस्नेह–

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तमाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः॥ (च. सू. 13/26)

अकेले बिना किसी द्रव्य में मिलाये स्नेह अर्थात् प्रविचारणा रहित शुद्ध स्नेह या केवल मात्र स्नेह पान 'अच्छपेय' कहते है। इस कल्पना को स्नेहपान की मुख्य कल्पना कहा गया है।

स्नेह की प्रविचारणाएँ (Other types of Snehan)

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः।
क्लेशासहामद्य नित्यास्तेषामिष्टा विचारणाः॥ (च. सू. 13/82)

जिन व्यक्तियों को स्नेह सेवन से कष्ट (स्नेह द्वेषी) अनुभव होता है कोष्ठ मृदु तथा क्लेश सहन नहीं कर सकते है, जो सदा स्नेह का सेवन करते हैं जो व्यक्ति प्रतिदिन मदिरापान करते है, उनके लिए प्रविचारणा का प्रयोग उत्तम है। स्नेह की प्रविचारणाएँ 24 प्रकार की होती हैं।

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयोदधि। यवागुः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः॥
सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिः तथा चोत्तरबस्तयः॥
गंडूषः कर्णतैलं च नस्तः कर्णाक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः॥
(च. सू. 13/23 से 25)

जो स्नेह ओदन आदि भोज्य पदार्थों या किसी प्रकार के शरीरोपयोगी अन्य द्रव्यों का योग कर उनके साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है उसे प्रविचारणा कहते है।

1. **ओदन**– पाँच (5) गुने पानी में पकाया हुआ चावल भात या ओदन है।
2. **विलेपी** – दले हुये चावल या मक्के को चौगुने जल में पकाने पर जिसमें अन्नकण का सम्पूर्ण रूप से पाक (गल गए) हो और द्रव स्वरूप हो वह विलेपी है। अर्थात् यह विरल द्रव स्वरूप होती है।
3. **मांसरस**– मांस को पकाकर उसके द्रव या रस को मांसरस कहते हैं।
4. **मांस** – ताजे मांस को पकाकर विधिवत् प्रयोग करना।
5. **दूध** – गरम दूध के साथ स्नेह प्रयोग।
6. **दही** – दूध को जमाकर दही तैयार करना।
7. **यवागु** – चावल को 6 गुने पानी में पकाना।
8. **सूप**– दाल को 18 गुने पानी में पकाकर चौथाई शेष रखना।
9. **शाक**– वह वनस्पतियों के पत्र, पुष्प तथा फल को पकाना।
10. **यूष**– मूंग की दाल आदि को 18 गुने जल में पकाकर आधा अर्थात् 9 गुना जल रह जाए।
11. **काम्बलिक**– तिल और उड़द की पिट्ठी में दही, खटाई, नमक, तैल मिलाकर रायता जैसा बनाना।
12. **खण्ड**– मट्ठे के साथ कैथ, चांगेरी, मरिच, जीरा, चित्रक आदि डालकर पकाना।
13. **सत्तू**– जौ को भूनकर, पीसकर बनाया जाता है।
14. **तिलकल्क** – तिल को कूट-पीसकर बनाया जाता है।
15. **मद्य**– इसमें आसव, अरिष्ट, मदिरा का प्रयोग करते है।
16. **लेह**– आटे को घी, तैल में भूनकर चीनी डालकर हलवा बनाना।
17. **भक्ष्य**– घी की कचौड़ी, मालपुआ आदि भक्ष्य हैं।

18. **अभ्यञ्जन**– औषध सिद्ध स्नेह द्वारा अभ्यंग करना।
19. **बस्ति**– अनुवासन बस्ति (स्नेह) का प्रयोग।
20. **उत्तरबस्ति**– योनि व मूत्रमार्ग से स्निग्ध बस्ति का प्रयोग।
21. **गण्डूष**– मुख में किसी स्नेह को धारण करना।
22. **कर्णतैल**– औषध सिद्ध स्नेह को कान में डालना।
23. **नस्यकर्म**– नासिका द्वारा स्नेह का प्रयोग अर्थात् नस्य लेना।
24. **अक्षितर्पण** – अक्षि पर तर्पण हेतु घृत या घृत मण्ड का प्रयोग करना।

6. पाक–भेद से स्नेह व इनकी महत्त्वता (Snehapaka and It's Importance in panchakarma)

खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको मृदुर्नस्तः क्रियासु च।
मध्यपाकं तु पानार्थे बस्तौ च विनियोजयेत्॥ (च. क. 12/104)

स्नेह पाक भेद निम्न 3 प्रकार के होते हैं–

1. **मृदुपाक**– मृदु पाक होने पर, तैलपाक में डाली हुई औषधियों का कल्क प्रथम डाले हुए कल्क के समान हो जाता है। उपयोग– नस्य हेतु
2. **मध्यपाक**– मध्य पाक होने पर तेल का कल्क हलवा की तरह कड़छुल को छोड़ने लगता है। उपयोग– पान एवं बस्ति हेतु
3. **खरपाक**– खर पाक होने पर तेल का कल्क अँगुलियों से मसलकर वर्ती बनाते समय टूट जाय एवं कड़ा हो जाती है। उपयोग– अभ्यङ्ग हेतु।

7. स्नेहन के प्रकार (Types of Snehana i. Bahya and ii. Abhyantara Snehana)

(A) बाह्य स्नेह (Bahya Snehana)–स्नेह का बाह्य प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है। (Methods, Indications and Contraindications of the following types of Bayasnehana)

a. अभ्यङ्ग   b. मर्दन–उन्मर्दन   c. पादाघात   d. संवाहन   e. कर्णपूरण
f. गण्डूष व कवल   g. मूर्धतैल   h. नेत्रकल्प   i. धूमपान   j. मस्तिष्क्य

(B) आभ्यन्तर स्नेह (Abhyantara Snehana)

a. आभ्यन्तर स्नेह के प्रकार – शोधनार्थ, शमनार्थ एवं बृंहण स्नेहन (Types of Abhyantara Snehana- Shodhanartha, Shamanartha and Brimhanartha Snehana)

1. भोजन   2. पान   3. नस्य और   4. बस्ति

इन चार प्रकारों से स्नेह का आभ्यांतर प्रयोग होता है।

7. (i) बाह्य स्नेह (Bahya Snehana)

(a) अभ्यंग (Abhyanga)–

अभ्यंग का अर्थ है– शरीर पर तैलादि लगाना।

अभ्यंग शब्द निष्पत्ति 'अंग्' धातु गति के अर्थ में प्रस्तुत है इसमें ''अभि'' उपसर्ग से अभ्यंग शब्द बनता है इसका शब्दतः अर्थ होता है कुछ गतियाँ कराना।

तैल, वसा, मज्जादि स्नेहों को शरीर पर रगड़कर हाथ से उन स्नेहों को अच्छी तरह शोषणार्थ गतियाँ कराई जाती हैं।

अभ्यंग स्वस्थों में स्वास्थ्य रक्षणार्थ प्रति दिन प्रशस्त है। वृद्ध वाग्भट्ट ने ऋतु के अनुकूल वातघ्न और सुगंधित तैलों से नित्य अभ्यंग करने को कहा है।

अभ्यंग का अर्थ मालिश से है। शरीर पर स्नेह का लगाना या अन्य किसी स्नेह द्रव्य द्वारा शरीर पर अनुलोम गति से मालिश करना अभ्यंग कहलाता है।

संधि स्थानों पर वर्तुलाकार (गोल–गोल) अभ्यंग करना चाहिये। सिर पर सामान्य या ठण्डा तैल तथा अन्य शरीर पर अभ्यंग हेतु सुखोष्ण (हल्का गरम) तैल प्रयोग करना चाहिये।

अभ्यंग काल– सामान्यतः 15 मिनट से लेकर 45 मिनट तक रोग व रोगी की अवस्थानुसार चिकित्सक द्वारा निश्चित किया जाता है।

अभ्यंग पश्चात् विश्राम करके उष्णोदक (गरम जल) से स्नान करना चाहिये।

अभ्यंग रोगानुसार लगातार 7 दिन, 14 दिन, 21 दिन, 28 दिन या रोगानुसार किया जाता है।

आचार्य डल्हण ने अभ्यंग काल उसके प्रभावानुसार बताया है।

1. तीन सौ मात्रा	(लगभग 95 सैकण्ड)	इतने समय में स्नेह त्वचा के रोमांत तक पहुँचता है।
2. चार सौ मात्रा	(लगभग 136 सैकण्ड)	त्वचा में पहुँचने तक का काल।
3. पाँच सौ मात्रा	(लगभग 158 सैकण्ड)	रक्त में पहुँचने तक का काल।
4. छः सौ मात्रा	(190 सैकण्ड)	मांस में पहुँचने तक का काल।
5. सात सौ मात्रा	(222 सैकण्ड)	मेद में पहुँचने तक काल।
6. आठ सौ मात्रा	(253 सैकण्ड)	अस्थि तक का।
7. नौ सौ मात्रा	(285 सैकण्ड)	मज्जा तक का काल।

अतः रोमान्त से मज्जा तक के क्रम से अभ्यंग में लगभग 5 मिनट लगते है। अतः प्रत्येक अंग पर अभ्यंग हेतु 2 से 5 मिनट लगते है इस तरह कुल 15 मिनट से 45 मिनट तक अभ्यंग हितकर है।

(1 मात्रा = 19/60 सैकण्ड = .3166 Second)

अभ्यंग में प्रयुक्त स्नेह द्रव (Oil/Medicated Sneha used for Abhyanga) – अभ्यंग हेतु स्नेह का चयन दोषानुसार किया जाता है। जैसे–

वातज दोष में–नारायण तैल, महानारायण तैल, कार्पासस्थ्यादि तैल, कोट्टम चुक्कादि तैल, माष तैल, महामाष तैल (सामिष, निरामिष), धन्वन्तर तैल, बला तैल, अश्वगंधा तैल आदि।

पित्तज दोष में– चंदनादि तैल, मंजिष्ठादि तैल, क्षीर बला तैल, कर्पूरादि तैल, पंचतिक्त घृत, शतावरी घृत, पिण्ड तैल आदि।

कफज दोष में–सहचरादि तैल, विषगर्भ तैल, धत्तूरपत्रादि तैल, सैंधवादि तैल।

अभ्यंग के गुण (Merits of Abhyanga)–अभ्यंग स्वस्थ व्यक्तियों में तथा रोगानुसार भी लाभकारी होता है। इसके निम्न गुण हैं–

> **अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जरा–श्रम–वातहा।**
> **दृष्टिप्रसादपुष्टयायुः स्वप्न सुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥** (अ. ह. सू. 2/8)

1. **जराहर** – वृद्धावस्था देर से आती है।
2. **श्रमहर** – थकान को दूर करता है तथा अच्छी निद्रा लाने वाला होता है।
3. **वातहर** – वात शामक है।
4. **दृष्टिप्रसादकर** – नेत्रज्योति बढ़ती है।
5. **पुष्टिकर** – शरीर को पुष्ट बनाता है।
6. **आयुष्यकर** – धातुओं को पोषित कर आयु बढ़ाता है।
7. **स्वप्नकर** – निद्रा अच्छी आती है।
8. **क्लेशसहत्व**– शरीर में दृढ़ता आती है जिससे अनेक कष्टों को सहन करने की शक्ति आती है।
9. **अभिघात सहत्व** – चोट लगने पर भी विशेष तकलीफ नहीं होती है।
10. **कफवातशामक**– कफ वात शामक होता है।
11. **मृजावर्ण बलप्रद** – अभ्यंग से बल बढ़ता है त्वचा में निखार आता है।

अभ्यंग अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Abhyanga)–

(1) कफप्रधान रोग

(2) आमज व्याधि

(3) अजीर्ण

(4) दोष की सामावस्था में या जो आम दोष से पीड़ित हो

(5) वमित पुरुष

(6) विरेचित पुरुष

(7) निरूढ

(8) तरुण ज्वरी

(9) संतर्पण से उत्पन्न रोग

अभ्यंग विधि (Mode of Massage)–यह तीन चरणों में पूर्ण होती है–

(1) पूर्व कर्म

(2) प्रधान कर्म

(3) पश्चात् कर्म

पूर्वकर्म (Poorva Karma) – इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं–

(1) संभार संग्रहण (Collection of necessary facilities)

(2) आतुर परीक्षा (Examination of the patient)

(3) आतुर सिद्धान्त (Preparation of patient)

1. संभार संग्रहण (Collection of necessory facilites) –

(a) उपकरण (Equipments)

(b) बर्तन (Utensil)

(c) परिचारक (Assisting staff)

(d) आवश्यक औषधि– व्यापद हेतु भी

आवश्यक उपकरण व परिचारक– अभ्यंग टेबल या द्रोणी, स्टोव, छोटी भगोनी, कटोरी, तौलिया, अभ्यंग हेतु तैल, उष्ण जल पात्र आदि होना चाहिए।

अभ्यंग हेतु दो परिचारकों की आवश्यकता होती है।

2. आतुर परीक्षण (Examination of the patient) – इसमें यह देखा जाता है कि रोगी अभ्यंग हेतु योग्य है या नहीं। फिर रोगी के दोष, देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, आहार, सत्त्व प्रकृति इन अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है।

(a) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ीगति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध किया जाता है।

(b) चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – अभ्यंग से पूर्व रोगी को चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी देकर उसकी लिखित में सहमति ले लेते हैं।

3. आतुर सिद्धान्त (Preparation of Patient) –

औषध योग निर्धारण– रोग व रोगी की प्रकृति अनुसार औषध योग का निर्धारण किया जाता है। तथा प्रधान कर्म से पूर्व सभी आवश्यक व्यवस्था एवं कर्म करते है। जैसे दोषानुसार औषध तैलों का चयन। जैसे–

वात हेतु – बला/नारायण तैल

पित्तज हेतु – चन्दनादि तैल

कफज हेतु – विषगर्भ तैल/सहचरादि तैल

आहार एवं वेशभूषा (Diet & uniform)- अभ्यंग से दो–तीन घण्टे पूर्व रोगी को लघु आहार जैसे– पेया यवागु का सेवन कराया जाता है। रोगी को अभ्यंग हेतु कौपीन (लंगोट) वस्त्र पहनाया जाता है।

प्रधान कर्म (Pradhan Karma)

अभ्यंग हेतु आसन– प्रत्येक अंग/अवयव पर अभ्यंग अच्छी प्रकार से हो इसलिए अभ्यंग तथा अभ्यंग जैसी अन्य क्रिया विधियों को निम्नोक्त सात अवस्थाओं में या आसन में आतुर को रखकर अभ्यंग करना चाहिये।

1. पाँव सीधा रखकर बैठाकर (Sitting with legs Extended)
2. पीठ के बल लिटाकर (Supine position or Lying)
3. वामपार्श्व पर लिटाकर (Left lateral)
4. वक्ष उदर के बल लिटाकर (Prone)
5. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर (Right lateral)
6. पुनः पीठ के बल लिटाकर (Again Supine)
7. पुनः बैठाकर (Again Sitting with leg extened)

1. पाँव सीधा रखकर बैठाकर (Sitting with legs Extended)

2. पीठ के बल लिटाकर (Supine Postion or Lying)

3. वामपार्श्व पर लिटाकर (Left lateral)
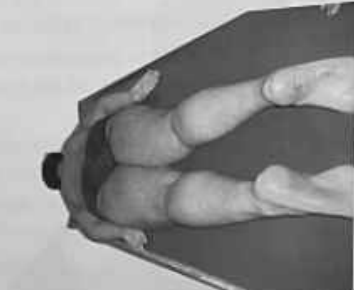
4. वक्ष उदर के बल लिटाकर (Prone)

5. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर (Right lateral)

6. पुनः पीठ के बल लिटाकर (Again Supine)

7. पुनः बैठाकर (Again Sitting with leg extened)

अभ्यंग विधि (Method of massage)– रोगी को कोपीन पहनाकर अभ्यंग टेबल पर लिटाया जाता है मुखोष्ण मूर्च्छा, कालन, ऋतु, दोषादि के अनुकूल तैल लेकर धीरे-धीरे अनुलोम गति (अनुलोम=जिधर शरीर के लोम/ बाल झुके हुए हो, उसी दिशा में अभ्यंग करना) से अभ्यंग करना चाहिए। सिर पर अभ्यंग हेतु शीत स्नेह व मुखोष्ण स्नेह से तथा हाथ पाव इत्यादि भागों पर उष्ण स्नेहों से अभ्यंग करें।

शीत ऋतु में उष्ण तैलों से तथा उष्ण ऋतु में शीत तैलों से अभ्यंग करना चाहिए।

सर्वप्रथम ब्रह्मरंध्र- सम्पूर्ण सिर- कर्ण-हस्त-पाद अभ्यंग करके अन्य शरीर के भागों का अभ्यंग प्रारम्भ करना चाहिये।

दीर्घाकार वाले अवयवों (हाथ, पांव) पर अनुलोमतः अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर, संधिस्थान (कर्पूर, अंस जानु, गुल्फ, कटि) में वर्तुलाकार अभ्यंग करें। अभ्यंग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। अभ्यंग विशेषतः सिर, पांव व कान पर करना चाहिये।

अभ्यंग की जो सात अवस्थायें हैं उन सभी अवस्थाओं में शरीर की 5-10 मिनट तक अभ्यंग करना चाहिए इस प्रकार 45 मिनट से 1 घण्टे तक अभ्यंग करना चाहिये।

कर्ण अभ्यंग

कर्ण अभ्यंग

शिरो अभ्यंग

शिरो अभ्यंग

शिरो अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

पाद अभ्यंग

पाद अभ्यंग

पाद अभ्यंग

नाभि अभ्यंग

सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण– अभ्यंग पश्चात् रोगी के लक्षणों का निरीक्षण किया जाता है। हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुनः अभ्यंग करना चाहिए। अतियोग के लक्षण उत्पन्न होने पर अभ्यंग क्रिया को रोक कर रोगी को विश्राम कराते हैं तथा सम्यक् लक्षण होने पर आगे की प्रक्रिया करते हैं।

पश्चात् कर्म (Post operative procedure)

इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं–

1. **शरीर स्वच्छता (Clean/Sponge)** – अभ्यंग पश्चात् तौलिया को गर्म पानी से निचोड़कर पूरे शरीर पर स्पंज करते हैं जिससे शरीर पर लगा हुआ तैल पोछकर शरीर को स्वच्छ किया जाता है।

2. **विश्राम (Rest)** – अभ्यंग पश्चात् 15 मिनट से 30 मिनट तक विश्राम करना चाहिये। एक से डेढ़ घण्टे बाद रोगी को उष्णोदक से स्नान करवाया जाता है। या रोगानुसार औषध क्वाथ स्नान करा सकते हैं।

3. **तापक्रमादि सूचीबद्ध (Vital recording)** – रोगी का पुनः तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ी तथा श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध करके पूर्व तथा वर्तमान के विवरण के आधार पर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

4. **आहार विहार सम्बन्धी निर्देश (Deit & other regimen)** – अभ्यंग पश्चात् रोगी को लघु आहार, पेया, यवागू का सेवन करवाया जाता है। उसे समशीतोष्ण वातावरण में रखा जाता है।

5. यदि अभ्यंग पश्चात् स्वेदन करना हो तो अल्प विश्राम कराकर स्वेदन करना चाहिये।

अभ्यंग की विभिन्न विधियाँ (Various methods of massage)–

(1) दलन/पीडन (Kneading)- पीठ, कमर और नितम्बों पर दोनों हाथ रखकर शरीर का दबाव हथेलियों पर डालते हुए घुमायें और ऊपर की ओर ले जायें। इसी को दलन अथवा पीडन कहते हैं। यह क्रिया आठ-दस बार करनी चाहिए। इससे शिरायें (Veins) में रक्त संचार बढ़ जाता है। तनी पेशियाँ नरम पड़ जाती हैं।

लाभ-सुस्ती दूर करने हेतु, मोटापा, अर्धांग वात (Paralysis) इत्यादि में लेकिन यह क्रिया वहाँ करें, जहाँ शोथ (सूजन) हो।

दलन/पीडन

(2) घर्षण (Friction)- अभ्यंग करने वाला (Massager) रोगी के शरीर पर अपनी ऊँगलियों को खुला रखकर दोनों हाथों से जल्दी-जल्दी रगड़ते हुए अभ्यंग करते है। इस क्रिया को घर्षण कहते हैं। यह क्रिया एक सन्धि से दूसरी सन्धि तक करनी चाहिए, जैसे पहले टखनों से घुटनों तक, फिर घुटने से जाँघ तक। घर्षण सम्पूर्ण शरीर पर कर सकते हैं।

घर्षण

लाभ– इससे त्वचा पुष्ट होती है, सन्धियों पर की शोथ (सूजन) कम हो जाती है और पेशियों का तनाव कम हो जाता है। ग्रन्थि धीरे-धीरे ठीक हो जाती है। कमर और सन्धियों के दर्द दूर हो जाते हैं।

(3) थपथपाना (Stroking)- हाथों को ढीला कर रोगी के शरीर पर थपथपाते है। इसका असर नाड़ियों पर ज्यादा पड़ता है। इसलिए पीठ पर ऊपर से नीचे की ओर थपथपाइये। लेकिन पेट पर नाभि के चारों तरफ दाहिनी ओर से बांयी ओर थपथपाना चाहिए।

थपथपाना

लाभ-इससे स्नायु मजबूत बनते है। अनिद्रा, उद्विग्नता, कम्प, स्नायु हिस्टीरिया आदि को रोकने में सहायक है।

(4) ताल के साथ हाथ चलाना (Effurage)- अंगों की बनावट के अनुसार तेल रगड़ने के बाद हल्के हाथ से हल्के दबाव की ठोकरों के साथ अभ्यंग हो एक अंग के शुरू से अन्त तक एक-सा ताल होना आवश्यक है। टूटी हड्डी या अन्य चोट वाले भाग को अभ्यंग करते समय केवल उतने ही भाग की अभ्यंग न करें, अभ्यंग शिराओं (Veins) को उत्तेजित कर हृदय की ओर रक्त-संचार तेज करता है।

ताल के साथ हाथ चलाना

लाभ–इससे मांसपेशियों का खिंचाव कम हो जाता है, अनिद्रा दूर होती है और शोथ (सूजन) में कमी आती है।

(5) मसलना (Petrissage)- रोगी की मांसपेशियों को उंगलियों और अँगूठों के बीच पकड़कर धीरे-धीरे मसलते हैं और हृदय की ओर हाथों को बढ़ाते हैं। यह क्रिया मांसपेशियों के समानान्तर होनी चाहिए।

मसलना

लाभ–इससे नस, नाड़ियाँ और मांसपेशियाँ सबल बनती हैं।

(6) मरोड़ना (Wringing)- दोनों हाथो की ऊँगलियों को मिलाकर चूड़ी की तरह रगड़ने को मरोड़ना अथवा मोड़ना कहते हैं। यह क्रिया अक्सर टाँगों, हाथों और गर्दन पर की जाती है। हाथों को ऊपर की ओर गोलाई के साथ ले जाना चाहिए। लेकिन हाथों का दबाव हड्डी पर ज्यादा न पड़े, इसका ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा हड्डियों पर दबाव से दर्द हो सकता है।

लाभ– इससे पेशियों में शिथिलता आती है। थकावट दूर होती है। अर्धांगवात इत्यादि में यह क्रिया लाभदायक है।

(7) बेलना (Rolling)- रोगी के पेट और पीठ की मांसपेशियों की अभ्यंग करने वाला अपने दोनों हाथों में बेलन की तरह पकड़ कर बेलते हुए अंगों पर अभ्यंग करता है। इस क्रिया को बेलना अथवा (Rolling) कहते हैं। पेट पर यह क्रिया दाहिनी ओर से बांयी ओर, गोलाई में बिल्कुल हल्के हाथ से करें। लेकिन पीठ पर थोड़ा अधिक दबाव लगा सकते हैं।

बेलना

लाभ– वसा (Fat) को कम करने के लिए यह उत्तम उपाय है। इसलिए यह क्रिया स्थौल्य हेतु उत्तम है।

(8) **झकझोरना (Shaking)**- दोनों हाथों से रोगी के अंगों को हिलाते हुए आगे बढ़ाने की क्रिया को झकझोरना अथवा (Shaking) कहते हैं। अभ्यंग के बाद रोगी के अंगों को झकझोरना चाहिए।
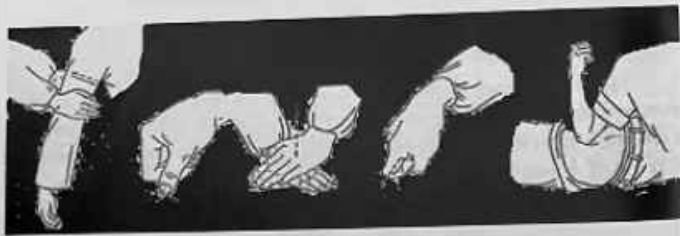
झकझोरना

(9) **दबाना (Twisting)**- रोगी की मांसपेशियों को पंजे में लेकर उंगलियों से दबाने की क्रिया को दबाना अथवा (Twisting) कहते हैं।

दबाना

लाभ – इससे अंगों का दर्द दूर होता है तथा वृद्धावस्था में यह अधिक लाभदायक है।

(10) **थपकाना (Tapping)**- खुले हाथों से उंगलियाँ ढीली कर बाहुओं को शिथिल कर रोगी की मांसपेशियों और सिर पर बार-बार जल्दी-जल्दी थपकाना (Taping) है। उंगलियाँ आड़े लेकिन ताल के साथ चलानी चाहिए। झकझोरने की अपेक्षा थपकाना ज्यादा अच्छा है। अतः यह क्रिया भी मालिश के बाद ही की जाती है।

थपकाना

(11) **कटोरी की थपकी (Clapping)**- जिस प्रकार बच्चों की पीठ पर माँ अपनी हथेली को थोड़ा मोड़कर-कटोरी-सी बनाकर- ढीले हाथ से थपथपाती है उसी प्रकार अभ्यंग में इस प्रकार की विधि या इस क्रिया को कटोरी की थपकी (Clapping) कहते हैं। थपकाने (Tapping) के बाद कटोरी की थपकी (Clapping) करना अधिक अच्छा है।

कटोरी की थपकी

(12) **कंपन (Vibration)**- अभ्यंग करने वाला अपने दोनों हाथों को ढीला छोड़कर रोगी के अंगों को हिलाते हुए ऊपर या नीचे की ओर ले जाये फिर केवल उंगलियों के अग्र से तेजी के साथ लेकिन तालयुक्त कंपन दे। कंपन की शृंखला टूटने न पाये। इसलिए यह क्रिया जरा कठिन है और अभ्यंग करने वाले को भी इससे जल्दी थकावट होने लगती है।

कंपन

लाभ– इस अभ्यंग क्रिया से नींद जल्दी आती है, थकावट दूर होती है।

पेट और पीठ की मालिश, बेलन (Rolling), थपथपाना (Storking), कटोरी की थपकी (Clapping) इत्यादि के बाद रोगी को कंपन देना चाहिए।

7. (i)b मर्दन–उन्मर्दन (Mardana- unmardana)

"तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समंततः।" (अ. ह. सू. –2/12)

व्यायाम के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को इस प्रकार मले जिससे कोई कष्ट ना हो वह मर्दन है।

मर्दन में स्नेह, अभ्यंग, उत्सादन की अपेक्षाकृत अधिक बल से घर्षण करते हैं। (जोरसे शरीर पर रगड़ना)

मर्दन-उन्मर्दन यह पर्यायी शब्द है, लेकिन इसमें थोड़ा भेद है, मर्दन में स्नेह को अनुलोम गती से घर्षण करते हैं, और उन्मर्दन में प्रतिलोम गति से स्नेह का घर्षण करते हैं। यह स्नेह कोष्ण होना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण में त्वक्गत, मांसगत, रक्तगत वात, सिरागत वात में रक्तमोक्षण के साथ-साथ स्नेह मर्दन करने के लिए कहा है।

स्नेहोपनाहाग्निकर्म–बंधनोन्मर्दनानि च।
स्नायु संध्यस्थि संप्राप्ते कुर्याद् वायावतन्द्रितः॥ (सु. चि. 4/8)

आचार्य सुश्रुत ने स्नायु, संधि, अस्थिगत वात में भी स्नेह मर्दन–उन्मर्दन करने का उल्लेख किया है।

उद्वर्तन– प्रतिलोम गती से अधिक भार या पीडन या घर्षण के साथ अभ्यंग करना उद्वर्तन है।

आचार्य सुश्रुत ने उद्वर्तन, उद्घर्षण और उत्सादन ऐसे तीन कर्म दिये है।

1. उद्वर्तन– ऐसे द्रव्यों का उपयोग जो प्रविलायन और विम्लापन करते है।
2. उद्घर्षण– अस्निग्ध (रूक्ष) द्रव्यों का शरीर पर घर्षण।
3. उत्सादन– स्निग्ध द्रव्यों या स्निग्ध कल्क का शरीर पर घर्षण।

"उद्वर्तनं वात प्रविलापनीयविम्लापनम्।"
"उद्वर्तनवातहर कफमेदो विलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक् प्रसादकर परम्॥" (सु. चि. 24/51)

उद्वर्तन वातहर है, कफमेदनाशक और अङ्गों का स्थिर करने वाला है, त्वचा का प्रसादन करने में उद्वर्तन श्रेष्ठ है।

रूक्ष उद्वर्तन और स्नेह उद्वर्तन यह उद्वर्तन के प्रकार है, चरकाचार्य ने स्थौल्य चिकित्सा में रूक्ष उद्वर्तन और कृश की चिकित्सा में स्नेह उद्वर्तन करने का निर्देश किया है।

उत्सादन– स्नेह कल्कों का शरीर पर घर्षण उत्सादन है।

"सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम्।"
उद्घर्षणोत्सादाभ्यां जायेतामसंशयम्। उत्सादनाद्भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः॥
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम्। उद्घर्षणं तु विज्ञेयं कण्डुकोठ अनिलापहम्॥
(सु. चि. 24/54)

उत्सादन से सिरामुख विस्तृत होता है। त्वचा में स्थित अग्नि उत्तेजित होती है। उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से कान्तिमान होता है, तथा प्रहर्ष, सौभाग्य, मृजा, लाघव आदि गुणों से युक्त होता है, उत्सादन, कोठ, कण्डू, वायु को नष्ट करता है। (उबटन लगाना/Massage by medicated paste)

7. (i) c पादाघात (Padaghata)

वातघ्न तैलैरभ्यंग मूर्ध्नि तैल विमर्दनम्।
नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः॥ (अ. ह. सु.–3/10)

युक्तिपूर्वक पाद (पैर) के द्वारा शरीर के पृष्ठभाग पर मर्दन करना पादाघात है। वाग्भट ने ऋतुचर्या में पादाघात का निर्देश किया है।

पादाघात में जो व्यक्ति पैर से पीडन करेगा उसके पैर स्वच्छ, अकठोर हो तथा वह व्यक्ति अतिस्थूल या अति कृश नहीं होना चाहिए। पादाघात हेतु शयनस्थान से उपर एक रस्सी बांधकर उसमें एक चक्र लगा देते हैं। जिसको पकड़कर रूग्णशरीर के अवयव पर सुखपूर्वक पादाघात कर सके।

7. (i) d संवाहन (Samvahana)

आवाहन–हाथ से धीरे धीरे थपकी मारना (मलना) यह सुखकारक स्पर्श है।

अधिक बल का प्रयोग ना करते हुये शरीर को मलना संवाहन है। अगर संवाहन के लिये स्नेह का उपयोग किया जाता है तो वह स्नेह संवाहन है। सुश्रुताचार्य ने दिनचर्या प्रकरण में अभ्यंग, तैल मर्दन के बाद संवाहन का निर्देश किया है। संवाहन– प्रीति उत्पादक है, निद्राकर है, वृष्य और कफवातनाशक है, मांस, रक्त और त्वचा हेतु संवाहन हितकर है।

7. (i) e कर्णपूरण (Karna purna)

"न कर्णरोगा वातोत्था न मन्या हनु संग्रहः।
नोच्चैः श्रुतिर्नबाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णं तर्पणात्॥" (च. सू. 5/84)

हनुमन्या शिरः कर्ण शूलघ्नं कर्णपूरणम्॥ (सु. चि. 24/29)

कर्ण में तैल भरना कर्णपूरण है।

नित्य कर्णपूरण करने से वातज कर्णरोग, हनु मन्यास्तम्भ, कर्णबाधिर्य आदि व्याधियां नहीं होती है, सुश्रुताचार्य ने कर्णशूल, मन्याशूल, शिर:शूल इनमें कर्णपूरण का निर्देश किया है।

कर्णपूरण 100 मात्रा तक धारण करना चाहिए।

7. (i) f गण्डूष–कवल धारण (Gandusha and kavala)

सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवले कवलः स्मृतः।
असंचार्या तु या मात्रा गडूषः स प्रकीर्तितः॥ (सु. चि. 40/62)

(औषधी) द्रव्यों की संचारी मात्रा जो मुख में सुखपूर्वक घुमाई जा सके वह कवल है। द्रव्यों की असंचारी मात्रा को मुख में धारण करना गण्डूष कहलाता है। सुश्रुत और वाग्भट्ट ने मात्रा की आधार पर गण्डूष और कवल में

भेद किया है तथापि इन दोनों के गुण और कर्म एक जैसे ही है। आचार्य शार्ङ्गधर ने अलग दृष्टीकोण से इसका विवेचन किया है, गण्डूष में द्रवद्रव्यों का उपयोग और कवलग्रह में कल्क का प्रयोग करने के लिये कहा है।

आचार्य सुश्रुत और वाग्भट्ट ने गण्डूष के 4 भेद बताये है।

गण्डूष प्रकार	दोषघ्नता	प्रयुक्तव्य द्रव्य
स्निग्ध	वातघ्न	मधुर अम्ल लवण रस + स्नेह
शमन	पित्तघ्न	तिक्त, कषाय, मधुररस
प्रसादन	पित्तघ्न	मधुर, शीत द्रव्य
शोधन	कफघ्न	तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कटु रसयुक्तद्रव्य

गण्डूष गुण कर्म–

दंतदार्ढ्यकर रूच्यं स्नेहगण्डूष धारणम्। (सु. चि. 24/7)

कुछ उपयुक्त गंडूष प्रयोग

व्याधी	गण्डूष/कवल द्रव्य
दंतहर्ष, चलदंत, वातिक मुखरोग	सुखोष्ण या शीत तिलकल्कमिश्रित गण्डूष
मुखपाक, दाह, तृष्णा	मधु से कवलधारण
मुखवैरस्य, मुखदुर्गन्ध	कांजी से गण्डूष
गलप्रदेश से कफका निष्कासन	क्षारयुक्त जल से गण्डूष
होना	(सज्जीक्षार, यवक्षार, टंकण)
गलग्रह, शुष्क कास, गलशुंडिका	हरिद्रायुक्त कोष्ण जल का
वृद्धी, गलपाक	प्रयोग, कोष्ण तिल तैल गण्डूष

7. (i) g मूर्धतैल (शिरः तर्पण) (Detail discription of murdhni Taila and It's types)

शिरः प्रदेश पर तैल आदि से तर्पण या स्वेदन करना इसे मूर्धतैल या शिरः तर्पण कहते हैं।

नित्यस्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते। न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च॥
बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्द्धते। दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवंति च॥
इंद्रियाणि प्रसीदंति सुत्वग्भवति चाननम्। निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नितैलनिषेवणात्॥
(च. सू. 5/81-83)

चरकाचार्य ने मूर्धतैल की प्रशंसा में कहा है कि प्रतिदिन तैल से स्नेहन करने से शिर:शूल नहीं होता, यदि है तो उसका नाश होता है। अकाल खालित्य और पालित्य का नाश करता है, शिर:प्रदेश दृढ़ बलवान होता है, केश दीर्घ, दृढ़मूल और कृष्णवर्णी रहते है, इंद्रीय प्रसन्न रहकर अपना अर्थ ग्रहण का कार्य योग्य प्रकार से करते हैं, मुख मृदु, मुलायम कान्तियुक्त होता है इसका सर्वोत्तम गुण सुखकारक निद्रालाभ है।

"अभ्यंगसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।
मूर्धतैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम्।।" (अ. ह. सू. 22/23)

उपरोक्त लाभ की प्राप्ति हेतु शिर: प्रदेश पर स्नेहन् नित्य (सतत) धारण करें, काल एवं गुणकर्म के अनुसार आचार्य वाग्भट्ट ने मूर्धतैल के चार प्रकार बताये है।

1. शिरोऽभ्यंग 2. सेक (धाराकर्म) 3. शिर: पिचुधारण 4. शिरोबस्ति

1. शिरोभ्यंग (Siro Abhyanga)

तत्राऽभ्यंग प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु। (अ. ह. सू. 22/24)
शिरोगतांस्तथा रोगान् शिरोऽभ्यंगोऽपकर्षति। केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्।।
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्। संतर्पणं चेन्द्रियाणां शिरस: प्रतिपूरणम्।।
(सु. चि. 24/25-26)

शिर: प्रदेश पर तैल से संवाहन/मालिश करना शिरोभ्यंग है। शिरोभ्यंग के लिये मंद सुखोष्ण तैल का प्रयोग करना चाहिए, शिरोभ्यंग से शिरोरोग दूर होते हैं। बालों में मृदुता आती है, शिर: प्रदेश सारे इंद्रियों का मूलस्थान होने से इसके प्रयोग से सभी इंद्रिय उत्तम कार्यकारी हो जाती है।

2. धाराकर्म (Dhara Karma)

परिचय (Introduction)- किसी भी द्रव पदार्थ या औषध युक्त द्रव पदार्थ को शरीर पर धारा के रूप में गिराना या प्रयोग करना धाराकर्म कहलाता है। यह एक प्रकार का बाह्य मृदु स्नेहन है जिससे रोगों का शमन होता है।

प्रकार (Types)- यह स्थानानुसार दो प्रकार का होता है-

(i) एकांगधारा- शरीर के किसी अंग विशेष पर धारा गिराना एकांगधारा कहलाता है। जैसे- शिरोधारा, नेत्रधारा।

(ii) सर्वांगधारा- सर्वांगशरीर पर धारा गिराना सर्वांगधारा कहलाता है। जैसे- पिडिच्चल।

शिरोधारा एवं धाराकर्म औषध द्रव्य के आधार पर निम्न प्रकार की होती है-

(i) स्नेहधारा- इसमें औषध द्रव्य को तैल या घृत में सिद्ध कर या तिल तैल या शुद्ध गो घृत का प्रयोग करते हैं। अधिकांशत: तैल का प्रयोग करने के कारण तैल धारा प्रचलित है।

(ii) क्षीरधारा- इसमें औषध द्रव्य दुग्ध से सिद्ध किया जाता है। अथवा केवल दूध से भी किया जाता है।

(iii) तक्रधारा- इसमें औषध द्रव्य छाछ से सिद्ध किया जाता है।

(iv) जलधारा- सुखोष्ण जल को धारा रूप में प्रयोग करते हैं।

(v) क्वाथ धारा- इसमें औषध द्रव्य के क्वाथ (Decoction) का प्रयोग करते है।

उपरोक्त सभी धारा कर्मों का सिर पर प्रयोग करने पर वे सभी शिरोधारा के भी प्रकार है यथा - तैल शिरोधारा, जल शिरोधारा, क्षीर शिरोधारा

शिरोधारा (Shirodhara)

सिर पर विशेषत: कपाल प्रदेश पर औषधि क्वाथ, दूध, छाछ, इक्षुरस, घी, तैल इत्यादि से विशिष्ट प्रकार से धारा छोड़ना शिर: सेक कहलाता है इसे शिरोधारा भी कहते हैं।

शिरोधारा में प्रयुक्त उपकरण-

स्वर्णाद्युत्थमलोहजस्तु करको मृत्संभवो वाऽत्र तत्। नालाग्रं तु कनिष्ठिकांगुलि परिणाहोन्मितं रोगिण:।।
द्विप्रस्थ: प्रमितो निधेय इति वा मध्यस्थरंध्रादयो। गच्छद्वर्तिरथोर्ध्वलंब्यपि घट: कार्य: शिर: सेचने।।
(धाराकल्प)

धारापात्र- शिरोधारा करने के लिए एक विशिष्ट पात्र का उपयोग किया जाता है उसे धारापात्र कहते हैं। यह धारापात्र सुवर्ण, लौह, पीतल, ताम्र, स्टील, लकड़ी अथवा मिट्टी का बना होता है। इस पात्र का मुख चौड़ा होता है नीचे की ओर गोलाई में सिकुड़ा होता है तथा गहराई में 6 इंच का होता है।

शिरोधारा पात्र (धारा पात्र)

इसमें 2 प्रस्थ या 64 औंस (लगभग 2 liter) द्रव की क्षमता कम से कम होनी चाहिए।

पात्र के नीचे तल भाग में कनिष्ठिका अंगुली का अग्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग 2 सेमी. परिणाह का छिद्र होता है, जो बिल्कुल मध्य में हो। इस छिद्र के ऊपर वर्तुलाकार लकड़ी या धातु निर्मित कप के आकार का छिद्र युक्त पात्र इस प्रकार रखा जाता है कि जिससे इसका छिद्र तथा धारापात्र का छिद्र दोनों समान्तर दिशा में हो। इस पात्र के स्थान पर नारियल का बराबर आधा कटा हुआ कवच भी उपयोग ला सकते हैं।

धारावर्ति- यह कपास या कपड़े की बनी होती है। इस वर्ति का एक भाग धारापात्र के छिद्र में इस तरह लगा हुआ हो जिससे धारापात्र का छिद्र पूर्णतया: बंद न हो बल्कि थोड़ा-थोड़ा और सतत धारा युक्त द्रव छिद्र में से उतर

सके। वर्ति का दूसरा भाग धारापात्र के छिद्र से उतर कर पात्र के बाहर आतुर के सिर से करीब चार इंच ऊँचाई तक लटकता रहे। पात्र के अंदर स्थित वर्ति के प्रतिस्थान में छोटी सी लकड़ी की पट्टी क्रास के रूप में लगा दें अथवा अंदर गांठ लगाएँ ताकि वह छिद्र से न गिर पाए। नारियल के कवच का प्रयोग किया है तो नारियल खोल के बीच से गाठ लगाएँ।

द्रोणी (या) धारा टेबल- यह टेबल 7 फीट लम्बा 2½ फीट चौड़ा, 2½ फीट ऊँचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजुओं में किनारे से तीन-तीन इंच तक ऊपर तक ऊँचाई की दीवार वाली होनी चाहिए। जिससे टेबल पर गिरा हुआ द्रव बाहर न जा सके और नीचे रखे हुए पात्र में एकत्रित हो जाए।

शिरोधारा टेबल एवं स्टैण्ड

धारोच्च चतुरंगुलं तु शिरस: सेके।
अत्युष्णेऽपि च मंदकोपसमये मंदातपे शीतले।। (धाराकल्प)

धारापात्र स्टैण्ड- रस्सी या जंजीर से बांधकर धारापात्र को स्टैण्ड पर लटकाया जाता है। धारापात्र की ऊँचाई इतनी रखते हैं कि वर्ति की ऊँचाई रोगी के सिर से लगभग 4 अंगुल या लगभग 20 cm रहे।

शिरोधारा के द्रव्य भेद से प्रकारों का वर्णन :-

(1) तक्र धारा **(2) क्षीर धारा** **(3) तैल धारा**

1. तक्र धारा (Takradhara)-

धात्रयस्त्वेक वर्षातप हिम परि शोषातिशुद्ध प्रकीर्णाद्। धात्री प्रस्थं समादं, भिषगथ पटुधी: संत्यजेद्बीजमस्या।।
उत्क्वाथ्याष्टाढ़शाख्यमित कुडव जले षष्ठभागावशिष्टं। तत्तुल्यं चाम्लतक्रं विधिरिति मुनिभि: प्रोक्त आत्रेयमुख्यै:।।
(धाराकल्प)

(i) तक्र धारा निर्माण विधि- एक वर्ष तक धूप और वायु में सुखाये हुए आंवले का चूर्ण 800 g लेना चाहिए जिसमें आंवलों का बीज न हो। इसमें 2.5 लीटर जल डालकर 1/6 शेष अर्थात् 400ml के लगभग शेष रहे ऐसा क्वाथ बना लें। इसमें 400ml तक्र डालकर शिरोधारा करनी चाहिए।

अन्य विधि:- 1.3 लीटर गाय का दूध लेकर 5.2 लीटर जल और 80 ग्राम मुस्ता चूर्ण डालकर जब तक पकाएँ तब तक दूध शेष (1.3 लीटर) रह जाए। ठण्डा होने पर इसमें खट्टी छाछ थोड़ी मात्रा में डालकर उसका दही बनावें इसमें 650ml आमलक क्वाथ डालकर छाछ बनाकर शिरोधारा करनी चाहिए।

गुणकर्म (Properties)-

केशादीनांश्च शौक्ल्यं क्लममपि तनुतां दोषकोप शिरोरुग्बाधामोज: क्षयं तत्करचरणपरिस्फोटनं मूत्रदोषम्।
संधीनां विश्लथत्वं हृदयरुगरुची जाठराग्नेश्च मांद्यम्। धात्री तक्रोत्थधारा हरति शिरसि वा कर्णनेत्रामयोघम्।।
(धाराकल्प)

(1) पलित्य रोकने में (केशों का सफेद होना कम होता है।)
(2) शरीर की थकावट दूर होती है।
(3) ओजक्षय दूर होता है।
(4) शिर:शूल का शमन होता है।
(5) संधियों का शैथिल्य कम होता है।
(6) उर्ध्वजत्रुगत रोगों में लाभदायक।
(7) हाथ पाँव के तलवों की दरारों का शमन होता है।
(8) मूत्र रोग में लाभदायक है।

2. क्षीर धारा (Ksheer Dhara)

(ii) क्षीरधारा निर्माण विधि-

- इसमें औषध युक्त दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। बलामूल/शतावरी/अश्वगंधा 30 ग्राम व दुग्ध 450 मि. ली. तथा पानी दुग्ध से 8 गुना लेकर तब तक उबाला किया जाता है जब तक केवल दुग्ध शेष रह जाए। फिर इस क्षीर में नारियल पानी की बराबर मात्रा मिलकार शिर: सेक किया जाता है। नारियल पानी के स्थान पर दोषानुसार क्वाथ भी मिलाकर प्रयोग करते है जैसे दशमूल क्वाथ।

क्षीर धारा करते हुए

- क्षीर धारा प्रयुक्त औषध युक्त दुग्ध को एक ही बार उपयोग में लिया जाता है।

गुण कर्म (Properties):- क्षीरधारा निद्रानाश, उन्माद, अपस्मार, दाह में उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त दशमूल युत दुग्ध का भी प्रयोग करते है।

3. तैलधारा (Tail Dhara)-

चन्दनबला, लाक्षादि, क्षीरबला तैल, दशमूल तैल, अश्वगंधादि तैल आदि का रोग व रोगी की अवस्थानुसार प्रयोग किया जाता है।

योज्यं स्नेह चतुष्टयं च तिलजं वा तत्र शुद्धेऽनिले। पित्तेऽस्रे च घृतं, कफे तु तिलजं वातेऽस्र पित्तान्विते।।
तैलाज्यं तु समं कफेन सहिते तैलार्धं भाग घृतम्।। (धाराकल्प)

तैल द्वारा शिरोधारा करते हुए

धाराकल्प में

(1) वात दोष में तिल तैल से
(2) पित्त और रक्त में घृत से
(3) कफ में तिल तैल से
(4) वात और रक्त संसृष्टि में तथा वातपित्तरक्त संसृष्टि में तैल और घी को समभाग लेकर उसमें
(5) कफ संसृष्टि में तेल और आधे भाग घृत मिलाकर धारा करने का निर्देश किया है।

गुणकर्म (Properties) :-

- वाग् और मन की स्थिरता होती है।
- शरीर का बल बढ़ता है।
- भोजन में रुचि बढ़ती है।
- स्वरमाधुर्ययुक्त एवं त्वचा कोमल है।
- शुक्र एवं रक्त इन धातुओं का पोषण होता है।

शिरोधारा विधि (Procedure of Shirodhara)-

यह तीन चरणों में पूर्ण होती है-

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्व कर्म (Poorva karma of shirodhara)- इसमें निम्नलिखित कर्म आते है-

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)- शिरोधारा करने से पहले रोगी का परीक्षण करते है कि वह शिरोधारा योग्य है या अयोग्य। योग्य होने की स्थिति में आतुर बल, प्रकृति, वय, सात्म्य, सत्व आदि की परीक्षा करते हैं। शिर पर तैल द्वारा अभ्यंग करते हैं।

(ii) शिरोधारा योग्य रोग व रोगी (Suitable for Shirodhara):-

- उन्माद
- अपस्मार
- वातज शिर:शूल
- पित्तज शिर:शूल
- कफज शिर:शूल
- सन्निपातज शिर:शूल
- अर्धावभेदक
- अनंतवात
- सूर्यावर्त
- शंखक
- कर्णनाद
- कर्णबाधिर्य
- स्मृतिदौर्बल्य
- खालित्य
- पालित्य
- अरूंषिका
- नासा रोग
- दृष्टिमान्द्य
- मस्तिष्कक्षय

अयोग्य रोग व रोगी (Unsuitable for Shirodhara)-

शिरोशोथ, कर्णमूलिका ग्रन्थि- शोथ, अजीर्ण, छर्दि, मूर्च्छा, सन्यास आदि।

औषध योग निर्धारण- रोगी के रोग व प्रकृति अनुसार औषध योग व शिरोधारा प्रकार का निर्धारण किया जाता है।

आवश्यक उपकरण- शिरोधारा पात्र, शिरोधारा टेबल, स्टोव, छोटी भगोनी, तौलिया, धारा स्टैण्ड, नारियल कपाल, औषध द्रव्य, दस्ताने, नेत्रबंधन पट्टिका, ऊष्णजल युक्त भगोना आदि।

शिरोधारा हेतु दो परिचारक की आवश्यकता होती है।

तापक्रमादि सारणी (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन गति, आदि को सूचीबद्ध करते हैं।

शिरोधारा कर्म में होने वाले उपद्रवों व सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी रोगी को दें व उसकी लिखित में सहमति (Consent form) लेकर उसे सूचीबद्ध करते हैं।

रोगी की वेशभूषा स्वच्छ व आरामदायक होनी चाहिए। तथा धारा कक्ष एकदम शांत वातावरण होना चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhan Karma)-

शिरोधारा योग्य आतुर को धाराटेबल पर लिटावें। रोगी का शिर शिरोधारा स्टैण्ड के नीचे शिरोधारा के लिए निर्मित विशिष्ट भाग की ओर रहे। इस भाग में काष्ठ पट्टिका लगाई जाती है जिस पर नरम तकिया रखकर सिर को उन्नत रखें जिससे कि धारापतित द्रव उसके नीचे गर्त में जाएं और वहाँ से पुन: प्राप्त हो सके।

रोगी के सिर के ठीक ऊपर धारापात लटकाया जाता है। आतुर की आंखों पर कपास के बड़े-बड़े फाहे (पेड) रख दें और हल्का बंधन बांध दें एवं कपड़े की पट्टी को रस्सी नुमा सिर पर इस प्रकार मृदु बंधन करें जिससे औषधि आँख में न जाए। अब धारापात्र में औषध भर दें और परीक्षण करें कि वह न तो अतिशीत हो और न ही उष्ण हो।

एक परिचारक धारापात्र को पकड़कर उसके वर्ति में से धारा बराबर कपालप्रदेश पर 4 अंगुल ऊँचाई से गिराता रहे। वह गिरा हुआ द्रव टेबल के नीचे रखे हुए पात्र में एकत्रित होता रहे जिसे दूसरा परिचारक, एकत्रित द्रव को धारापात्र में पुनः डालता रहे।

कुल समय-इस तरह यह विधि 45 मिनट से 1 घण्टे तक करना चाहिए।

कुल दिवस-शिरोधारा 7 दिन, 14 दिन, 21 से 28 दिनों तक रोग व रोगी की प्रकृति अनुसार निर्धारित करते हैं।

काल-धाराकर्म के लिए योग्य काल प्रातःकाल 7 से 10 बजे तक का है। मध्याह्न तथा रात्रि में धाराकर्म नहीं करना चाहिए।

सम्यक्, हीन व अतियोग-

सम्यक् योग- सम्यक् योग होने पर शिरोधारा के पूर्ण लक्षण प्राप्त होते हैं व रोग का शमन होता है।

हीन योग होने पर पूर्ण लक्षण प्राप्त नहीं होते इसमें शिरोधारा पुनः करें।

अतियोग होने पर शिरोधारा को रोक दिया जाता है।

पश्चात् कर्म (Paschat Karma)-

शिरोधारा पश्चात् गर्म पानी में तौलिया भिगोकर उसे निचोड़कर रोगी के सिर पर स्पंज करते हैं जिससे सिर पर लगा हुआ तैल साफ हो जाता है। 1½ या दो घण्टे बाद सुखोष्ण जल या क्वाथ में स्नान कर सकते हैं। तत्पश्चात् निवात स्थान में विश्राम करवाया जाता है।

तापक्रमादि सूचीबद्ध करना (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन गति को सूचीबद्ध कर पूर्व तथा वर्तमान स्थिति के आधार पर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

रोगी आहार-विहार- आहार में लघु आहार पेया, यवागु का सेवन करवाया जाता है।

विहार- तेज आवाज में बोलना, अधिक देर तक खड़े रहना, अधिक देर तक बैठना, बहुत अधिक देर तक सोना, अति भ्रमण न करें, शोक, क्रोध न करें, दिवाशयन, रात्रिजागरण न करें। व्यायाम, सूर्यसंताप, वेगावरोध, अत्यंत शीत वस्तु सेवन, धूम्रपान वर्जित होता है।

3. पिचु धारण (Siro Pichu)-

पिचुः केशपात स्फुटन धूप नेत्रस्तंभच।। (अ. ह. सू. 22/25)

कार्पासखंड या Gauze piece तैलाक्त या घृताक्त करके शिरःपर स्थित ब्रह्मरंध्र पर (Anterior fontanale) धारण करें, विशेषतः केशपात (Hairfall), शिर प्रदेश में स्फुटन (त्वचा का फटना), शिरः प्रदेशी व्रण, नेत्रस्तम्भ आदि विकारों में यह उपक्रम उपयुक्त होता है।

4. शिरोबस्ति (Shiro Basti)

परिचय (Introduction)- सिर पर तैल धारण करना शिरोबस्ति कहलाता है। बस्ति में जिस तरह प्राणियों के बस्तियों का प्रयोग किया जाता है ठीक वैसे ही इसमें तैल धारण कराने के लिए प्राणियों के चर्म से निर्मित यंत्र का उपयोग किया जाता है। उसे शिरो बस्ति यंत्र कहते हैं।

बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दित जागरे।

नासास्य शोषे तिमिरे शिरोरोगेषुदारुणे। (अ. ह. सू. 22/26)

शिरोबस्ति योग्य रोग व रोगी (Suitable for Shiro Basti)-

1. अर्दित 2. तिमिर 3. अनिद्रा 4. दारुण
5. नासाशोष 6. आस्यशोष 7. शिरोरोग 8. अर्धावभेदक
9. शिर व शरीर में प्रसुप्ति (स्पर्श ज्ञान का अभाव)

शिरोबस्ति यंत्र- यह चमड़े की या रैग्जीन की टोपी सदृश होता है जो सिर के आकार का परिणाह में तथा 12 अंगुल विस्तीर्ण ऊँचा होता है।

वह ऊपर व नीचे दोनों ओर से खुला होता है।

शिरोबस्ति निम्न तीन चरणों में पूर्ण होती है-

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्व कर्म (Poorva Karma of Shiro Basti)- शिरोबस्ति कर्म से पूर्व जो भी कर्म किए जाते हैं वो सभी पूर्वकर्म के अन्तर्गत आते हैं।

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient) - शिरोबस्ति कर्म से पूर्व सर्वप्रथम यह निर्धारण कर लेना चाहिए कि वह रोगी शिरोबस्ति योग्य है या नहीं। योग्य होने की स्थिति में रोगी का वय, बल, सात्म्य, सत्व आदि की परीक्षा कर लेते हैं।

(ii) तापक्रमादि मापन (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन गति को ज्ञात कर सूचीबद्ध कर लिया जाता है।

रोगी को चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी के साथ-साथ चिकित्सा प्रक्रिया समझा कर उसकी लिखित में सहमति लेकर (Consent form) सूचीबद्ध करना चाहिए।

(iii) औषध योग निर्धारण- रोग व रोगी की अवस्था अनुसार औषध योग का निर्धारण कर लिया जाता है अर्थात् दोषानुसार औषध तैल, घृत आदि का चयन करते हैं। जैसे-

वात रोग में धन्वंतर तैल, बला तैल, महानारायण तैल।
पित्तज रोग में चन्दनादि, चन्दन बला लाक्षादि तैल।
कफज रोग में धत्तूर पत्रादि, सहचरादि तैल

(iv) आवश्यक उपकरण व परिचारक- शिरोबस्ति यंत्र, स्टोव, भगोनी, कटोरी, तौलिया, चम्मच, एप्रन, कोटन, उड़द आटा, पट्टी, औषध योग आदि।

परिचारक- शिरोबस्ति हेतु दो परिचारक की आवश्यकता होती है।

(v) आहार व वेशभूषा - शिरोबस्ति से पूर्व रोगी को लघु आहार दिया जाता है।

रोगी की वेशभूषा स्वच्छ व आरामदायक होनी चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhan karma of Shiro Basti)

इसमें शिरोबस्ति विधि कर्म आता है।

मुण्डित सिर

पट्टी पर माष लेप करते हुए

शिरोबस्ति धारण पूर्व पट्टी लगाते हुए

पट्टी लगाते हुए

शिरो बस्ति लगाते हुए
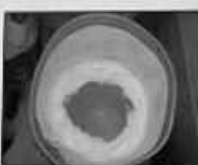
शिरो बस्ति सम्यक् रूप से लगाते हुए

शिरो बस्ति सम्यक् रूप से लगाते हुए

माष कल्क (शिरोबस्ति के अंदर से लगा हुआ)

शिरोबस्ति में तैल धारण किए हुए

शिरो बस्ति में तैल डालते हुए

विधि (Procedure)-

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ। शुद्धाक्त स्विन्न देहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्।।

द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरः समम्। आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते।।

चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्। ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्।।

ऊर्ध्वकेशभुवो यावदङ्गुलं धारयेच्च तम्।। (अ. ह. सू. 22/26 से 29)

सर्वप्रथम रोगी को जानु जितनी ऊँचाई वाली कुर्सी पर बैठा दिया जाता है। फिर उसके सिर पर बस्तियंत्र को व्यवस्थित रखकर बेंडेज से बांधकर उसे फिट कर दिया जाता है। आभ्यांतर भाग में रोमांत के स्थान में माषकल्क (उड़द के आटे को पानी में गूंथकर) को भरकर अवकाश रहित कर दिया जाता है। यदि आवश्यकता हो तो बाहर भी उड़द का आटा लेपित कर दिया जाता है फिर बंधन किया जाता है बंधन इतना लम्बा हो जो कि कान के बाजू से सिर पर घूमते हुए सात-आठ बार स्तर हो जाए। गांठ कनपट्टी पर आनी चाहिए। इस प्रकार के बंधन से तैल स्रवित नहीं हो पाता है। शिरोबस्ति यंत्र सिर पर अच्छी तरह से आ सके इस हेतु आवश्यक है कि रोगी का मुंडन या बालों को छोटा करवा दें।

रोगानुसार उचित तैल या औषध द्रव सुखोष्ण कर दर्वी या चम्मच द्वारा बस्तियंत्र के बाजू से धीरे-धीरे अंदर डाल दें। केशभूमि से लगभग दो अंगुल ऊँचाई तक तैल भर दें।

बस्ति धारण काल मर्यादा-

दशाष्टौ षट् चतादिषु। मात्रा सहस्राणि।

स्वास्थ्ये त्वेकं।। (अ. ह. सू. 22/30)

रोग	कुल मर्यादा	मिनट में काल
वातज रोग	10000 मात्रा तक	लगभग 53 मिनट
पित्तज रोग	8000 मात्रा तक	लगभग 43 मिनट
कफज रोग	6000 मात्रा तक	लगभग 31 मिनट
स्वस्थ में	1000 मात्रा तक	लगभग 5-6 मिनट

मात्रा- एक अक्षिनिमेष, एक चुटकी या एक लघु अक्षर उच्चारण के लिए जितना समय लगता है वह एक मात्रा है। इसका काल लगभग 19/60 सैकेण्ड माना है।

प्रयोग काल-लगभग सात दिन तक शिरोबस्ति प्रयोगकाल बताया है। तथा शिरो बस्ति प्रक्रिया अपराह्न काल या सायं काल में की जाती है।

धारयेच्च तम्। आवक्त्र नासिकोत्क्लेदात्।। (अ. ह. सू. 2/29)

स्कंधादि मर्दयेत् मुक्तस्नेहस्य।। (अ. ह. सू. 22/30)

इस तैल को तब तक धारण करावें जब तक वेदना का शमन हो या मुँह या नाक से क्लेदन होने लगे। यह बस्ति समय पूर्ण करने का लक्षण है।

बीच-बीच में तैल अधिक ठण्डा न हो इस हेतु चम्मच से थोड़ा-थोड़ा तैल निकालकर उतना ही गरम तैल डालते रहें। ताकि सम्पूर्ण प्रक्रिया में तैल का तापक्रम एक समान सुखोष्ण बना रहे।

शिरोबस्ति समय पूर्ण होने पर तैल निकाल देते हैं।

3. पश्चात् कर्म (Paschat karma of Shiro Basti)- इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं-

(i) तापक्रमादि मापन (Vital recording)- प्रधान कर्म के पश्चात् रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, श्वसन गति, नाड़ी गति को ज्ञात कर पूर्व में लिए गए विवरण से तुलना कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

(ii) आहार विहार सम्बन्धी निर्देश- शिरोबस्ति कर्म पश्चात् रोगी के सिर का तैल कॉटन द्वारा या दर्वी द्वारा निकाल देते हैं तथा शिरोबस्ति यंत्र को हटा कर सिर, कंधे, ग्रीवा, पृष्ठ का मृदु अभ्यंग करते हैं।

सिर को ढककर रखने का निर्देश दिया जाता है तथा रोगी को निवात स्थान में निवास करवाया जाता है।

आहार में लघु आहार को सेवन करवाते हैं।

7. (i) h अक्षितर्पण, पुटपाक, सेक, आश्च्योतन व अंजन का सामान्य परिचय (General discription of Akshi Tarpan, Seka, Ashchyotana and Anjana)

अक्षितर्पण

अक्षि पर स्नेह धारण करना अक्षितर्पण है।

अक्षितर्पण नेत्रव्याधिनाशक है।

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातजे। वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्ण पक्ष्माविलेक्षणे।।

कृच्छ्रोन्मिलसिराहर्ष सिरोत्पात तमोर्जुनैः। स्यन्दमन्थान्यतोवात वातपर्याय शुक्रकैः।।

आतुरे शांतरागाश्रुशूल संरम्भ दूषिके।। निवाते तर्पण योज्यं।। (अ. ह. सू. 24/1-3)

आँख के सामने अंधेरा आना, अक्षिस्तब्धता, अक्षिशुष्कता, नेत्राभिघात, वातपित्तज नेत्ररोग, नेत्रजिह्मता (टेढ़ा होना) शीर्णपक्ष्म, अधिमन्थ, अभिष्यंद, अर्जुन, सिराहर्ष, सिरोत्पात आदि व्याधियों में उपयुक्त है।

व्याधि	अक्षितर्पण कालावधी	दोष	कालावधी
वर्त्मरोग	100 मात्रा	वातज	1000 मात्रा
संधिरोग	300 मात्रा	पित्तज/रक्तज	600 मात्रा
शुक्लगत रोग	500 मात्रा	कफज	500 मात्रा
कृष्णगत रोग	700 मात्रा		
दृष्टीगत रोग	800 मात्रा		
अधिमंथ रोग	1000 मात्रा		

पुटपाक (Putpaka)

जिन अवस्थाओं में तर्पण किया जाता है। उन्ही अवस्थाओं में पुटपाक करना चाहिए।

भेद- 3 प्रकार व उनके अनुसार मात्रा

प्रकार	लेखन पुटपाक	स्नेहन पुटपाक	रोपणीय पुटपाक
मात्रा	100	200	300
अवधि	1 दिन	2 दिन	3 दिन

पुटपाक तर्पणानुसार अनेक व्याधियों का नाश करता है।

सेक व आश्च्योतन के गुण (Properties of Seka and Aschotana)

वातादि दोषनाशक औषधियों के क्वाथ/स्वरस द्वारा किया हुआ आश्च्योतन अपने प्रभाव से नातिप्रबल रोगों को नष्टकर देता है तथा यथा दोषानुसार सेक बलवान रोग नष्ट देता है।

आश्च्योतन व सेक के भेद

आश्च्योतन की मात्रा (भेदानुसार)

लेखन	स्नेहन	रोपण
7/8 बिन्दु	10 बिन्दु	12 बिन्दु

सेक/ परिषेक का धारणकाल पुटपाक से द्विगुण धारण काल होता है।

लेखन	स्नेहन	रोपण
200	400	600

आश्च्योतन व परिषेक का धारण काल

पूर्वाह्न, मध्याह्न, सायाह्न में ये कर्म करने चाहिए।

अंजन (Anjana)

दाहिने हाथ से अञ्जन शलाका या अंजन लगाकर, नेत्र में कनीनिका से अपांग एवं पुनः अपांग से कनीनिका तक नेत्र में लगाना चाहिए।

अंजन शलाका का वक्त्र मुकुल आकार का, मोटाई कलाय के बराबर, आठ अंगुल लम्बी होनी चाहिए।

अंजन प्रकार व मात्रा

	लेखन	प्रसादन	रोपण
गुटिका/वर्ति	1 हरेणु	1½ हरेणु	2 हरेणु
रसक्रिया/ चूर्णांजन	2 शलाका	3 शलाका	4 शलाका

7. (i) I धूमपान (Dhoompana)

प्रवर, मध्य, अवर दृष्टि से वमन वेग पूर्ण हो जाने पर आतुर को एक मुहूर्त पश्चात धूमपान (प्रायोगिक/स्नैहिक/ वैरेचनिक) करवाते है।

प्रायोगिक धूमपान– हरेणुका, प्रियंगु, केशरादि, शमन द्रव्य, गुग्गुलु, मधुक, जटामांसी, मोथा, सर्जरस इनकी वर्ति बनाकर धूमपान कराना प्रायोगिक धूमपान कहलाता है।

स्नैहिक धूमपान– वसा, घृत, सिक्थ इनके साथ जीवनीय गण मधुर औषधियां मिलाकर वर्ति से धूमपान स्नैहिक धूमपान है।

वैरेचनिक धूमपान– श्वेता, ज्योतिष्मती, हरताल, मन शिला व अन्य सुगन्धित द्रव्यों की वर्ति बनाकर धूमपान किया जाता है। यह वैरेचनिक धूमपान है।

7 (ii) आभ्यन्तर स्नेह (Abhyantara Snehana)-

7. (ii) a कर्मानुसार स्नेहपान भेद (Differnet typs of Abhyantra sneha):–

शमन: क्षुद्वतोऽन्नाो मध्यमात्रश्च शस्यते॥ (अ. ह. सू. 16/19)

पिबेत्संशमनं स्नेहं अन्नकाले प्रकांक्षित:॥ (च. सू. 13/61)

1. संशमन– भोजन के समय भूख लगने पर संशमन स्नेह का पान किया जाता है इसमें मध्यम मात्रा में स्नेह प्रयोग करते है तथा दोषों के शमन हेतु प्रयुक्त होता है।

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छ: शुद्धये बहु:। (अ. ह. सू. 16/19)

शुद्ध्यर्थं पुनराहारेनैशे जीर्णे पिबेन्नर:॥ (च. सू. 13/61)

2. संशोधन– पूर्व रात्रि में खाये हुए अन्न का ठीक से पाचन हो जाने पर प्रातः काल शोधन स्नेह का प्रयोग करते है, यह निश्चित मात्रा में (वृद्धि क्रम में) 3 से अधिकतम 7 दिन प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा दोषों को स्निग्ध, विलयन तथा उत्क्लेशन कर कोष्ठ में लाकर शरीर से बहार निकाल देते है इसमें प्रभूत (उत्तम) मात्रा में स्नेह प्रयोग करते हैं।

बृंहणो रस मद्याद्यै: स भक्तोऽल्प हित: स च॥ (अ. ह. सू. 16/20)

3. बृंहण– यह मद्य, मांस तथा भोजन के साथ मिश्रित कर अल्प मात्रा में स्नेह शरीर को पुष्ट करने हेतु दिया जाता है।

	कर्म	मात्रा/रोग/अवस्था	देने का काल	कोष्ठानुसार दिवस
1.	शोधन	मध्यम (च.) उत्तम (वा.)	प्रात (रात्रि भोजन जीर्ण होने पर)	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम – 4/5/6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
2.	शमन	(a) उत्तम मात्रा देंगे यदि स्नेह नित्या, गुल्म, सर्पदंश, विसर्प, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, मल सूखा हो	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम-4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
		(b) मध्यम मात्रा देंगे यदि अरूषक, स्फोट, पिडिका कण्डु, पामा, कुष्ठ, प्रमेह वात रक्त, अधिक न खाने वाले, मृदु कोष्ठी, बल मध्यम हो	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
		(c) हीन मात्रा देंगे यदि वृद्ध, बालक, सुकुमार, रिक्त कोष्ठ, मंदाग्नि, जीर्ण ज्वर, जीर्ण कास, जीर्ण अतिसार तथा अल्प बल हो।	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
सामान्यतः आचार्य चरक ने शमन हेतु उत्तम मात्रा में तथा शोधन हेतु मध्यम मात्रा में कोष्ठानुसार (मृदु–3 दिन तक, मध्यम 4–5 या 6 दिन, क्रूर में 7 दिन तक स्नेहपान का विधान बताया हैं।)				
3.	बृंहण	हीन मात्रा में देंगे	चरक ने कोई निश्चित काल नहीं बताया।	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन

आचार्य वाग्भट्ट ने बृंहण हेतु स्नेहपान भोजन, मांसरस या अन्य भोज्य के साथ अल्प मात्रा (ह्रसीयसी मात्रा) (10–20 ग्राम) में देना निर्देशित है परन्तु भोजन के साथ, कोष्ठानुसार न देकर प्रतिदिन भोजन में मिश्रित कर कहा है जैसे रोटी पर, खिचड़ी के साथ।

अचार्य चरक ने केवल शोधन, शमन हेतु काल बताया है, परन्तु बृंहण हेतु नहीं बताया है।

(च. सू. 13/61)

7. (ii) b स्नेहन योग्य व अयोग्य (Indications and Contraindications of Snehna)

स्नेहन योग्य पुरुष (Indications of Snehna)

स्वेद्या: शोधयितव्याश्च रुक्षा वातविकारिण:।

व्यायाममद्यस्त्रीनित्या: स्नेह्या:स्युर्येच चिंतका:॥ (च. सू. 13/52)

स्नेह्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिंतका:। वृद्धाबालाबलाकृशारुक्षा: क्षीणास्रतेजस:।

वातार्त्तस्यंदतिमिरदारुणप्रतिबोधिन:॥ (अ. ह. सू. 16/51)

(कुछ परिवर्तन के साथ यही श्लोक शार्ङ्गधर में तथा भावप्रकाश में है।)

1. जिनका स्वेद करना हो
2. जिनका शोधन करना हो।
3. रूक्ष शरीर वाले।
4. वातरोग से पीड़ित।
5. जो नित्य स्त्री का सेवन करते हों।
6. नित्य चिन्तन करने वाले
7. युद्ध करने वाले
8. वृद्ध, बालक, स्त्रियाँ, कृश व्यक्ति
9. रूक्ष, क्षीणरक्त, क्षीणवीर्य व्यक्ति
10. तिमिर रोग से पीड़ित व्यक्ति
11. जिनकी निद्रा कठिनाई से खुलती है वे सभी स्नेह्य है।

स्नेहन के अयोग्य पुरुष (Contraindications of Sneha)

संशोधनादृते येषां रूक्षणं संप्रचक्ष्यते। न तेषां स्नेहनं शस्तं उत्सन्नकफमेदसां॥

अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमंदाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालु शोषिण:॥

अन्नद्विषश्छर्दयंतो जठरामगरार्दिता:। दुर्बलाश्च प्रतांताश्च स्नेहग्लाना मदातुरा:॥

न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तो बस्तिकर्मसु। स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगा: सुदारुणा:॥

(च. सू. 13/53 से 56)

1. कफमेद वृद्धि वाले, लालास्त्राव युक्त पुरुष
2. प्रवाहिका, मंदाग्नि रोगी
3. तृष्णा, मूर्च्छा, तालुशोष रोगी
4. अत्यंत दुर्बल, क्षीण रोगी
5. स्नेहपान से ग्लानियुक्त
6. मदरोगी, अजीर्ण व्यक्ति
7. तरुणज्वर, अकालप्रसुता, ऊरुस्तम्भग्रस्त रोगी
8. रुक्षार्त, अतितीक्ष्णाग्नि व्यक्ति

- शोधनार्थ स्नेहपान (Detailed Description of Shodhanartha Snehana)

A. पाचन Pachana– आहार के ठीक प्रकार से पाचन हेतु तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधियों द्वारा यह पाचन कर्म किया जाता है। जैसे– पंचकोल चूर्ण, हिंग्वादि वटी, अग्नितुण्डी वटी, चित्रकादि वटी। क्योंकि पंचकर्म हेतु निराम अवस्था आवश्यक है जिससे आम दोष को पाचन द्वारा नष्ट करते है तथा अगले कर्म स्नेहन हेतु उपयुक्त अग्नि प्रदीप्ति एवं पाचन शक्ति बढ़ सके।

B. स्नेहपान का काल व विपरित काल सेवन से उपद्रव (Snehapana kaal and complication due to viprit kal Snehpana)

ऋतु के अनुसार स्नेहपान (Snehapana according to season & Anupana) –

सर्पि: शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे।

तैलं प्रावृषि नात्युष्ण शीते स्नेहं पिबेन्नर:॥ (च. सू. 13/18)

अत्यंत शीत व अत्यंत उष्णकाल में स्नेह का सेवन नहीं करना चाहिए।

ऋतु	स्नेहपान	अनुपान
शरद	घृतपान	उष्ण जल
बसंत (वैशाख)	वसा, मज्जा पान	मण्ड
प्रावृट (आषाढ़, सावन)	तैल पान	यूष या सर्वत्र उष्ण जल देना चाहिए।

स्नेहपान के विपरित काल सेवन से उपद्रव (complication due to viprit kal Snehpana)

वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नर:।

श्लेष्माधिको दिवा शीते, पिबेच्चामलभास्करे॥ (च. सू. 13/19)

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छां पिपासां उन्मादं कामलां वा समीरयेत्॥

शीते रात्रौ पिबेत् स्नेहं नर श्लेष्माधिकोऽपिवा आनाहमरुचिं शूलं पांडुतां वा समृच्छति॥

(च. सू. 13/20-21)

1. वातपित्तप्रधान दोषों में तथा ग्रीष्म में, रात्रि के समय स्नेहपान करावें।

2. वातकफप्रधान दोषों में तथा शीत ऋतु में दिन के समय स्नेहपान करावें जब आसमान साफ हो और सूर्य का प्रकाश निर्मल हो।

अमात्रयाहिते काले मिथ्याहार विहारत:। स्नेह: करोति शोफार्शोतन्द्रा स्तंभ विसंज्ञता:।

कंडू कुष्ठ ज्वरोत्क्लेश शूलानाह भ्रमादिकान्॥ (अ. ह. सू. 16/32)

मात्रा का निर्णय बड़ा महत्व रखता है। अमात्रा युक्त स्नेहपान कराने से शोथ, तंद्रा, स्तम्भ, संज्ञाहानि, कंडु, ज्वर, उत्क्लेश, शूल, आनाह, भ्रम आदि रोग उत्पन्न है। ह्रस्वमात्रा, मध्यमात्रा, उत्तम मात्रा ये मात्रा के प्रकार है।

C (i) शोधानार्थ स्नेहन की विभिन्न मात्राएं (Various dose schedules for shodhanartha snehana)–

स्नेह की चार प्रकार की मात्रा बतलायी गयी है– 1. ह्रसीयसी, 2. ह्रस्व, 3. मध्यम और 4. उत्तम।

1. ह्रसीयसी मात्रा– रोगी के दोष, दूष्य, शरीरबल और अग्निबल आदि का विचार कर पहले ह्रसीयसी (लगभग 30 एम.एल) स्नेहमात्रा देनी चाहिए उसके पश्चात् अग्निबल के अनुसार मात्रा बढ़ाते जानी चाहिए। अज्ञात कोष्ठ, बालक, वृद्ध और सुकुमार व्यक्तियों को ह्रसीयसी देनी चाहिए। (अ. सं. सू. 25/22-23)

2. ह्रस्व मात्रा– जिनका कोष्ठ मृदु हो एवं अग्निबल अल्प हो, उन्हें अल्पमात्रा में स्नेहपान कराना चाहिए। जो मात्रा 2 प्रहर (6 घण्टे) में जीर्ण होती है, उसे ह्रस्वमात्रा कहते है। यह मात्रा अल्प दोषों में दी जाती है।

3. मध्यम मात्रा– यह मात्रा मध्यम बलवाले दोषों में दी जाती है। यह मात्रा 12 घण्टे में पचती है। इसका प्रयोग प्रमेह, त्वक् एवं रक्तविकृति में होता है। इससे सुखपूर्वक स्नेहन और शोधन होता है। (चरकानुसार)

4. उत्तम मात्रा– यह अत्यधिक दोषबल में दी जाती है। इस मात्रा को तीक्ष्णाग्नि में देना चाहिए। यह ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् मार्गों में फैल जाती है। यह दोषों का क्षय करती है और शरीरबल को बढ़ाती है।

C (ii) स्नेह की मात्रा के योग्य (Indication of differnt types of snehana)

1. **प्रभूतस्नेह नित्याश्च क्षुत्पिपासासहा नरा:। पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले॥**
गुल्मिन: सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। उन्मत्ता: कृच्छ्रमूत्राश्चगाढवर्चस एव च॥
पिबेयुरुत्तमां मात्रां तस्या: पाने गुणान् शृणु। विकाराञ्शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक् प्रयोजिता:॥
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्व मार्गानुसारिणी। बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रिय चेतसां॥

(च. सू. 13/31 से 34)

2. **या मात्रा परिजीर्येत् तथा परिणतेऽहनि। ग्लानि मूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्॥**
अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति। सा तु कुष्ठ विषोन्माद ग्रहापस्मार नाशिनी॥

(सु. चि. 31/28)

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते। स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता॥ (सु. चि. 31/27)

	मात्रा नाम	पचन काल च. सू. 13/28-30	प्रयोग
1.	ह्रसीयसी	अज्ञात	यह परीक्षण मात्रा है (Test Dose)
2.	ह्रस्वमात्रा	यह 6 घण्टे (2 याम) में पचती है	इसका प्रयोग अल्प दोष हेतु, अग्नि प्रदीप्ति हेतु, वृद्ध, बाल, सुकुमार, मंदाग्नि, ज्वर, अतिसार है। कास, अवर बल (हीन बल) वालों के लिए करना चाहिए। (च. सू. 13/38–39)
3.	मध्यम मात्रा	यह 12 घण्टे (4 याम) में पचती है।	अरुष्क, स्फोट, पिडका, पामा, खुजली, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त में मध्यम शरीर बल एवं मध्यम अग्नि बल वालों को देना चाहिए (शोधन हेतु प्रयुक्त–चरकानुसार) (च. सू. 13/35–37)
4.	उत्तम मात्रा	(क) यह एक अहोरात्र (24 घण्टे) में पचती है। (ख) आचार्य सुश्रुत ने स्नेह की 5 मात्राएँ बताई है जो स्नेह जीर्ण काल के आधार पर है।	बहुदोष लक्षण वाले, तीक्ष्णाग्नि एवं उत्तम शरीर वालों में, नित्य स्नेह का प्रयोग करने वाले तथा कुष्ठ, अपस्मार, सर्पदंश, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, विबंध, गुल्म में देय। (च. सू. 13/31–34)

D. शोधनार्थ स्नेहपान विधि व स्नेह का अनुपान (Methods of Shodhanartha Snehana & Anupana of Sneha)

यह तीन चरणों में पूर्ण होती है–

(i) पूर्वकर्म (Pre operative procedure)

(ii) प्रधान कर्म (Main procedure)

(iii) पश्चात कर्म (Post operative procedure)

(i) पूर्वकर्म (Pre operative procedure)– इसमें निम्नलिखित कर्म आते है–

1. सम्भार संग्रहण (Collection of necessary facilities)

A उपकरण (Equipments), बर्तन (Utensil)

B परिचारक (Assisting Staff)

C आवश्यक औषधि (Necessary Medicine)

A उपकरण/बर्तन/आवश्यक सामग्री संग्रह

(i) मापन हेतु जार–1 (ii) ग्लास – 1

(iii) नींबू – 1 (iv) कपड़ा –1

(v) रुई, तौलिया, नेपकीन आदि (vi) गोज़ पीस

(vii) लोहे का बर्तन

(B) परिचारक – 1

(C) आवश्यक औषधि

स्नेहार्थ द्रव्य संग्रह– जिस स्नेह से स्नेहपान कराना हो उसका पर्याप्त प्रमाण में संग्रह करना चाहिए। जैसे–

जीर्ण ज्वर में – पिप्पल्यादि घृत **रक्तपित्त में –** वासा घृत

कुष्ठ में – महातिक्त घृत/पंच तिक्त घृत **उन्माद में –** कल्याण घृत

स्थौल्य– त्रिफला तैल **अपस्मार में –** पंचगव्य घृत

वात रोग – बला/क्षीर बला तैल

आदि रोगानुसार स्नेह का संग्रह करना चाहिए।

स्नेहपान में व्यापद हेतु उचित प्रतिकारक औषध तैयार रखें।

अनुपान हेतु उष्ण जल, यूष, मंड, निंबुक रस प्रतिदिन तैयार रखें।

नाभि पर पट्टी बांध देनी चाहिए।

(6) यदि स्नेहद्रव्य तीक्ष्णाग्नी हो तो रोगी के नेत्र और नासिका पर पट्टी बांध देनी चाहिए। स्नेह की पहली मात्रा 30 मिलीलीटर की देवें तथा स्नेह अनुसार अनुपान देवें एवं मृदु, मध्य और क्रूर कोष्ठ एवं अग्निबल का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। निम्न लिखित मात्रा साधारणतः प्रयोग में लाई जाती। अत्यन्त (रोगी को उत्तम मात्रा की आधी मात्रा देनी चाहिए।

व्यवहारोपयोगी अच्छ स्नेह पान मात्रा सारणी– (मध्यम मात्रा – जो 12 घण्टे में पच जाए) = शोधन हेतु

दिवस	क्रूर कोष्ठ	मध्यम कोष्ठ	मृदु कोष्ठ
प्रथम दिन	60 ml. (2 Ounce)	60 ml	60 ml
द्वितीय दिन	90 ml. (3 Ounce)	90 ml	90 ml
तृतीय दिन	120 ml. (4 Ounce)	120 ml	120 ml
चतुर्थ दिन	180 ml. (6 Ounce)	180 ml	
पंचम दिन	240 ml. (8 Ounce)	240 ml	
षष्ठम् दिन	300 ml. (10 Ounce)		
सप्तम् दिन	360 ml. (12 Ounce)		

वस्तुतः उपरोक्त स्नेहपान क्रम में स्नेह मात्रा का निर्धारण रोगी की जरण शक्ति के आधार पर किया जाता दिया गया मात्र वृद्धिक्रम को दर्शाने हेतु व्यवहारोपयोगी मात्रा है।

क्रूर कोष्ठी 7 दिन में, मध्य कोष्ठी 4, 5, या 6 दिन (सामान्य 5 दिन) तथा मृदु कोष्ठी 3 दिन में स्निग्ध हो जाते हैं।

आचार्य चरक ने शोधन हेतु मध्यम मात्रा (12 घण्टे में पचित) तथा वाग्भट्ट ने उत्तम मात्रा (24 घण्टे में पचने वाली) बताई है।

उपरोक्त स्नेह मात्रा सारणी अच्छ स्नेह हेतु है विचारणा युक्त स्नेहपान का नहीं क्योंकि उसमें स्नेह की मात्रा अल्प होती है। विचारणायुक्त स्नेहपान जब तक शरीर स्निग्ध न हो जाए तब तक दिया जा सकता है। अर्थात् निश्चित दिवस नहीं होते है।

स्नेहपान के समय रोगी को अरुचि, छर्दि या उद्गार हो तो नीबू की शिकंजी के साथ स्नेहपान कराना चाहिए तथा स्नेहपान पश्चात् उष्ण जल द्वारा कवल (कुल्ला) कराकर मुँह स्वच्छ करना चाहिए।

वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलम मिष्यते।
वैद्यो दद्यात् बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम्॥ (अ. सं. सू. 25/25)
केवलं पैत्तिके सर्पिः वातके लवणान्वितं।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम्॥ (सु. चि. 31/19)

वातप्रधान्य में नमक मिला घृत पिलावें

पित्त प्रधान्य में	केवल घृत पान करावें।
कफ प्रधान्य में	क्षार और त्रिकटु के साथ घृत पिलावें।

(ii) स्नेहपान के जीर्यमान और जीर्ण लक्षण (Symptoms of Shehapana during digestion/after digestion) –

प्रथम दिन के स्नेहपान के निर्विघ्न पचन के आधार पर ही अगले दिन स्नेहपान की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। अर्थात् पूर्व दिन से आगामी दिन को कितने अधिक मात्रा बढ़ा कर स्नेह देना है। स्नेह के पच्यमान काल में होने वाले लक्षण, स्नेह जीर्ण लक्षणों पर स्नेह की मात्रा निर्भर करती है।

स्नेहपान के पच्यमान लक्षण (Symptoms of Snehapana during digestion)–

शिरोरुक् भ्रम निष्ठीव मुर्च्छा सादारति क्लमैः।
जानीयात् भेषजं जीर्येत्.......................॥ (अ. सं. सू. 25/27)
स्युः पच्यमाने तृड्दाह भ्रम सादारति क्लमाः॥ (सु. चि. 31/33)

(1) शिरःशूल (2) भ्रम (3) लालास्राव
(4) मूर्च्छा (5) थकावट (साद) (6) क्लम
(7) तृष्णा (8) दाह (9) अरति।

स्नेह के जीर्ण लक्षण (Symptoms of Snehapana after digestion) –

.... **जीर्ण तद् शांति लाघवात्।**
अनुलोमोनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोद्गार शुद्धिभिः॥ (अ. सं. सू. 25/28)

(1) शिरोरुजा का शमन (2) शरीर में लघुता (3) वातानुलोमन
(4) क्षुधा होना (5) पिपासा (6) उद्गार शुद्धि।

स्नेह जीर्ण लक्षणों में, अजीर्ण लक्षणों की शांति और भूख प्यास की प्रकृत प्रवृति ये लक्षण मुख्य हैं। स्नेहपान पश्चात प्रतिदिन भूख कितने समय पर लगती है इसकी जानकारी आवश्यक है।

जीर्णाजीर्ण विशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेनोद्गार विशुद्धः स्यात् ततश्च लघुता रुचिः॥ (अ. ह. सू. 16/24)

स्नेह जीर्ण हुआ है या नहीं इसका संदेह होने पर गरम पानी पिलाना चाहिये।

(iii) स्नेहन के सम्यक् योग, अयोग व अतियोग के लक्षण (Analysis of Samyak Yog, Ayog, Atiyoga of Snehana)– जिस प्रयोजन हेतु स्नेहपान किया है उसकी सिद्धि के लिए आवश्यक है कि स्निग्ध, अस्निग्ध, अतिस्निग्ध लक्षणों का अच्छी तरह से निरीक्षण करें अन्यथा अस्निग्ध व अतिस्निग्ध पुरुष या आगे शोधन होने पर उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

2. आतुर परीक्षा (Examination of patient) –

तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतिश्च विकृतिश्च सारतश्च संहननतश्च, प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च,
सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेष ग्रहण हेतोः॥
(च. वि. 8/94)

आतुर स्नेह्य है या नहीं इसे विधिवत् परीक्षा कर लेनी चाहिए। आतुर प्रकृति की परीक्षा, विकृति की परीक्षा, सार, संहनन, प्रमाण, सत्त्व, सात्म्य, आहार शक्ति, व्यायाम शक्ति, वय इन भावों की भी परीक्षा करनी चाहिए।

आतुर की बलादि परीक्षा के बाद स्नेहन मात्रा, कालादि का निश्चय करते है। आतुर परीक्षा में घृत स्नेहार्ह, तैल स्नेहार्ह, वसा, मज्जा स्नेहार्ह इत्यादि का भी निश्चय करते है।

आतुर सिद्धता (Prepration of the patient)

स्नेहन कालावधि तथा मात्रा का निर्णय (Consideration of Agni & Koshtha) –

त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यी भवेत् सप्तदिनात्परं तु॥ (च. सि. 1/6)
मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥ (च. सू. 13/65)
पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पंचाहं षडहं तथा।
सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्म्यी भवति सेवितः॥ (सु. चि. 31/36)

शोधनार्थ प्रयुक्त स्नेह अधिक मात्रा में और अधिक दिन तक देते हैं। लघुकोष्ठी में तीन दिन, मध्यकोष्ठी तीन से पाँच दिन और क्रूर कोष्ठी में सात दिन स्नेह स्नेहन हेतु देते हैं। कम से कम तीन दिन तथा सात दिन से अधिक दिन स्नेहन नहीं करते हैं क्योंकि 7 दिन बाद वह सात्म्य हो जाता है।

यदि सात दिन पश्चात् भी स्नेहन न होतो पुनः कुछ दिनों का अंतराल देकर या रूक्षण कर अधिक मात्रा में स्नेह देना चाहिए अथवा स्निग्ध लक्षण मिलने तक स्नेहन करना चाहिये।

स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था (Diet and regimen during snehpana) –

द्रवोष्णमनभिष्यंदी भोज्यमन्नं प्रमाणतः।
नाति स्निग्धमसंकीर्णंश्वः स्नेहं पातुमिच्छता॥ (च. सू. 13/60)

द्रव, उष्ण, प्रमाणयुक्त, न अति स्निग्ध, असंकीर्ण, न अति देर से, चुपचाप, बिना हँसे, सात्म्य आहार स्नेहपान से पूर्व करना चाहिए।

स्नेहपान पूर्व निषिद्ध आहार– अभिष्यंदी, संकीर्ण, अतिस्निग्ध आहार का ग्रहण न करें।

स्नेहपान के समय रोगी को सुखासन या कुर्सी पर बैठाकर, सूती तथा अधिक तंग न हो ऐसे वस्त्र पहनाना चाहियें या एप्रिन पहनाकर स्नेहपान करायें जिससे कपड़े खराब न हो।

Diet Regimen

सेवनीय व वर्जनीय (Dos and Don't)- स्नेहोत्तर काल में जो पथ्यापथ्य है। उनका पालन करना यह स्नेह का पश्चात् कर्म है। स्निग्ध आतुर जितने दिन स्नेहन करें उससे दुगने दिन में आचार का पालन करना चाहिए।

उष्णोदकोपचारीस्यात्ब्रह्मचारी क्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारान् उदीर्णांश्च न धारयेत्॥
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोको हिमा तपौ।
वर्जयेत्प्रवातं च सेवेत् शयनासनम्॥ (च. सू. 13/62-64)

(1) समस्त खान-पान में उष्णोदकोपचार।
(2) स्नान में उष्ण जल का प्रयोग करें।
(3) ब्रह्मचर्य का पालन करें।
(4) दिवाशयन, रात्रि जागरण, वेगावरोध, उच्च स्वर में नहीं बोलना चाहिए।
(5) क्रोध, शोक का त्याग करें।
(6) अतिशीत, अति उष्ण का सेवन नहीं करें, समशीतोष्ण एवं वात रहित वातावरण में रहना चाहिये।
(7) धूम्रपान न करें।
(8) अभिष्यंदी, स्वाद्य का सेवन नहीं करें।
(9) धूल व धूएँ से बचाव रखें।

तापक्रमादि अंकन (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, वजन, नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप को सूचीबद्ध करें। चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी रोगी को देवें तथा उसकी लिखित में सहमति (Consent form) लेकर सूचीबद्ध करें।

B प्रधान कर्म (Main procedure) –

स्नेह्य आतुर को पूर्वकर्म में कही हुई सभी बातों का ध्यान रखकर विशिष्ट दिन स्नेह पिलाने के लिए प्रारम्भ करना यह प्रधान कर्म है इसमें निम्न कर्म आते हैं–

(i) स्नेहप्राशन विधि–

(1) चिकित्सक यह निश्चय करें कि रोगी द्वारा खाया गया सायंकाल का आहार अच्छी तरह पच गया है और उसका कोष्ठ लघु है।
(2) सर्वप्रथम रोगी को अपने इष्टदेव का स्मरण करवाना चाहिए।
(3) रोगी को आश्वासन देकर उसका धैर्य बढ़ाए।
(4) रोगानुसार स्नेह स्नेहपान हेतु देवें।
(5) उदयाचल पर्वत पर अग्नितप्त सुवर्ण के सदृश रक्ताभ या रक्त पीत रंग मिश्रित भगवान् सूर्य के आगमन अर्थात् ऊषा काल में रोग, दोष और रोगी के बलाबल का विचार करके स्नेह की मात्रा पीने के लिये देनी चाहिए। (सु. चि. 31/14) स्नेहपान सूर्योदय से 30 मिनट के अंदर ही करना चाहिए।

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण (Symptoms of proper oleation)–

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते॥ (च. सू. 13/58)

वायु का अनुलोमन, अग्नि दीप्त, मल की स्निग्धता, अर्थात् मल गाढ़ा व कठिन नहीं आता, शरीर में लघुता होती है, शरीर मृदु होता है, त्वचा स्निग्ध होती है। स्नेह से द्वेष होता है।

असम्यक् स्निग्ध लक्षण (Symptoms of improper oleation)–

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्॥ (च. सू. 13/57)

मल का गांठदार व रूक्ष होना, वात का अनुलोमन न होना, अग्नि की मंदता, अंगों में खरता व रूक्षता।

अतिस्निग्ध के लक्षण (Symptoms of Excessive Oleation)–

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रारुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥ (च. सू. 13/59)

पाण्डुता, अंगगौरव, जड़ता, अपक्वपुरीषता, तन्द्रा, अरुचि, उत्क्लेश, मुखस्राव।

(iv) स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार (Complications & its treatment of Snehapana)

स्नेहपान में प्रमादवश उपद्रव उत्पन्न होते है उन्हें व्यापद कहते है। वैद्य तथा आतुर दोनों के प्रमाद से व्यापद होते है। स्नेह का उचित निर्णय न करना, मात्रा काल का निर्णय न करना, स्नेह योग्य अयोग्य का निर्णय न करना इन सभी से व्यापद उत्पन्न होते है।

स्नेहपान सेवन काल में सावधानियाँ/स्नेहन पान के उपद्रव होने में हेतु (Precaution/Causes of complications during oleation)

..........**तंद्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तंभो विसंज्ञता। कुष्ठानि कंडूः**
पांडुत्वं शोफार्शास्यारुचितृषा। जठरं ग्रहणी दोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः।
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्॥ (च. सू. 13/75-76)

(1) अकाल में स्नेहपान (अयोग्य रोग व रोगी में स्नेहपान करना)।
(2) अहितकर स्नेहपान प्रयोग।
(3) अनाज्ञा पूर्वक स्नेहपान।
(4) स्नेह सेवन के नियमों का पालन न करने से।
(5) निर्धारित (बताएँ हुए) समय से अधिक समय तक स्नेह सेवन से।

1. तन्द्रा 2. उत्क्लेश 3. आनाह 4. ज्वर 5. अंगों में जकड़न
6. बेहोशी 7. कुष्ठ 8. कंडु 9. पाण्डुता 10. शोथ

11. अर्श 12. अरुचि 13. तृष्णा 14. उदररोग 15. ग्रहणी विकार
16. स्तैमित्य 17. वाक्ग्रह 18. उदरशूल 19. आमदोष

ये स्नेह व्यापद उत्पन्न होते हैं।

स्नेह व्यापद चिकित्सा–

मिथ्याचारात् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति।
विष्टभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत्॥ (सु. चि. 31/31)

शीघ्र चिकित्स्य उपद्रवों के प्रतिकारक चिकित्सा–

तक्रारिष्ट प्रयोगश्च रूक्ष पानान्न सेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेह व्यापत्तिभेषजम्॥ (च. सू. 13/78)

इसमें उष्णोदक मुख्य औषधि है उष्णोदक स्नेह को पचाता है- आम पाचन तथा वातानुलोमक है। तृष्णा अधिक होने पर वमन करायें। तक्र, अरिष्ट प्रयोग, रूक्ष अन्नपान, गोमूत्र, त्रिफला ये सभी स्नेह व्यापद् में औषधियाँ कही गयी हैं।

चिर चिकित्स्य व्यापद जैसे– कुष्ठ, कण्डु, पाण्डु, शोथ, उदर रोग, ग्रहणी, अर्श, स्तैमित्य (जड़ता) वाक्ग्रह इनकी चिकित्सा उन-उन रोगों की कथित चिकित्सा अनुसार करें जो स्नेहन रहित हो। सामान्यतः लंघन, रूक्षण, वमन और पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिये।

स्नेह का अनुपान (Anupana of sneha)–

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत् स्नेहे तत्सुख पक्तये।
आस्योपलेप शुद्ध्यै च, तौवरारुष्करे न तु॥ (अ. ह. सू. 16/23)
जलमुष्णं घृतेपेयं यूषः तैलेऽनुशस्यते।
वसा मज्जोस्तु मंडः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा॥ (च. सू. 13/22)

1. उष्णोदक– सभी स्नेहों में, विशेषकर घृतपान में देना चाहिए। तुवरक तैल व भल्लातक तैल में नहीं देना चाहिए।

2. यूष – यह तैलपान का अनुपान है।

3. मंड – यह वसा व मज्जा का अनुपान है।

सम्पूर्ण स्नेहपान काल (3 से 7 दिन) में उष्ण जल या नागर-धान्यांबु पीने के लिए देना चाहिए। तथा भोजन में लघु उष्ण आहार देना चाहिए।

तापक्रमादि सूचीबद्ध करना (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, वजन, नाड़ी गति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध कर पूर्व में लिए गए विवरण से अंतर ज्ञात कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते है।

सद्यः स्नेहन– जिस स्नेह के प्रयोग से कम से कम समय में (1/2/3 दिन में) अर्थात् शीघ्र ही स्नेहन होता है, उसे 'सद्यः स्नेहन' कहते है।

लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्।

तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।। (च. सू. 13/98)

लवण के साथ सेवन किया गया स्नेह मनुष्य का शीघ्र ही स्नेहन कर देता है, क्योंकि लवण अभिष्यन्दी होने से स्रोतों में स्राव उत्पन्न करता है, स्निग्ध होने से स्निग्धता लाता है, सूक्ष्म होने से शरीर के अतिसूक्ष्म स्तर तक प्रवेश कर जाता है, उष्ण होने से स्नेहों का पाचन करता है और व्यवायी होने से पहले सम्पूर्ण शरीर में स्नेह को फैलाकर बाद में उसकी पाचन क्रिया सम्पन्न कर शीघ्र स्नेहन करता है।

पञ्चप्रासृतिकी पेया– घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल प्रत्येक एक-एक प्रसृत (लगभग 100ग्राम) लेकर बनायी गयी पेया पञ्चप्रासृतिकी पेया कहलाती है। इस पेया के साथ दूध में चावल तथा उड़द डालकर सिद्ध की हुई खिचड़ी (जिसमें अधिक घी मिलाया गया हो) का सेवन करने से शीघ्र ही (1/2/3 दिन में) स्नेहन हो जाता है।

8. स्नेहन कार्मुकता (Mode of action of Snehana)

8. a. आभ्यान्तर स्नेह का कार्मुकत्व (Mode of action of Abhyantra Sneha)

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदुकरोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम्। (च.सि. 1/7)

1. स्नेहोऽनिलं हन्ति- ये गुण स्नेह के वातशामक होने को दर्शाता है, क्योंकि स्नेह के गुण वात के गुणो के बिल्कुल विपरीत है व वात का शमन करता है।

2. मृदु करोति देहं- स्निग्ध व मृदु स्नेह द्रव्यों के मुख्य लक्षण है। मृदुतानुसार स्नेह गात्रो को मार्दव करता है।

3. मलानां विनिहन्ति सङ्गं-

स्रोतो रोध हटाने के लिए शोधनार्थ स्नेहपान दिया जाता है। कोष्ठ में रूक्षता के कारण मलसंग उत्पन्न होता है। स्नेह कोष्ठ की रूक्षता का नाश करता है व मलसंग का नाश करता है।

Important points how Abbyantara Sneha acts

1. Sneha as solvent

Ghee acts as good solvent for many metabolic waste products and it enters the cells easily becuase cell wall is made up of phospholipids compaired to other non oily substances ghee etc fat materials for a stipulated period without causing any harm and also possesses better permiability property.

2. Increase in watery content of the body

Therapeutic actions of fats

Increase fat consuming increases the bile production

Cholesterol esters of polysaturated fatty acids are more rapidly metabolized by liver and other tissues.

Poly unsaturated fatty acids stimulates oxidation of cholestrol to bile acids

Poly unsaturated fatty acids stimulate cholestrol excretion through bile intestine

8. (h) अभ्यंग की कार्मुकता (Mode of action of Abhyanga)

बाह्य स्नेहन

↓

भ्राजक पित्त द्वारा औषध पाचन

↓

रोमकूप धमनी द्वारा औषध वीर्य का अवशोषण

↓

सम्पूर्ण शरीर में परिसंचरण

↓

धातुओं का पोषण व दोष शमन

The effect of abhyanga can assume in two ways i.e. physical manipulations and the effects of the drug in medicated oil. Physical manipulation in the form of massage increases the circulation of blood and plasma it can stimulate lymphatic system and remove internal waste products muscles and deep connective tissues get relaxation the effects of abhyanaga are-

Increases in flow of circulation local to the area treated.

Reduction of tone in muscles, which are in state of excess tension.

Obtained fascia and restoration of mobility of soft tissue.

Relief in pain is obiained by releasing acute or chronic tension in muscles and by affecting pressure and touch nerve endings.

There are factors which govern the permiability of the skin

The vehicle which affects the transfer

The substance which penetrate /Permeate/ Absorbed

✕ ✕ ✕

अध्याय–3

स्वेदन कर्म

Svedana karma (Sudation Therapy)

स्वेदन परिचय (Introduction)

शोधन के उद्देश्य से स्वेदन करना पूर्वकर्म है किन्तु जब स्वेदन द्वारा चिकित्स्य रोगों के शमन हेतु किया जाता है तब यह प्रधान कर्म होता है। ऊष्मा द्वारा स्रोतो विकास होने से त्वचा से स्वेद की उत्पत्ति होती है।

स्वेद-शरीरांतर्गत मल है। शरीर को मलिन करने के कारण इसकी मल संज्ञा होती है। स्वेद मेद धातु का मल कहा गया है। स्वेद से शरीर क्लेद का धारण किया जाता है।

क्लेद यह एक आप्य घटक है जो शरीर के जलीय तत्वों को एक निश्चित अनुपात में रखता है।

तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः, आपः क्लेदः। (च. शा. 5/5)

मूत्रस्य क्लेदवाहनम्। स्वेदस्य क्लेद विधृतिः।। (अ. ह. सू. 11/5)

मूत्र के द्वारा क्लेद का वहन होता है और स्वेद से धारण, केश व रोम का धारण भी स्वेद द्वारा होता है। शरीर के कई सारे आभ्यांतर क्लेद में रहकर मूत्र और स्वेद से बाहर निकल जाते हैं।

स्वेदन कर्म द्वारा कफ का विलयन, वेदनिवृत्ति एवं स्रोतो संग दूर होने पर शरीर की जकड़ाहट एवं शीत का निर्हरण होता है।

1. (a) स्वेदन शब्द निरुक्ति व परिभाषा (Etymology and definition of Svedana) – ष्विद् धातु में घञ् प्रत्यय से स्वेद बनता है इसमें भाव वाचक णिच् और अच् प्रत्यय लगता है।

स्वेद का अर्थ पाक भेद तथा ग्रीष्म ऋतु में शरीर से निःस्यंदित पसीना से है।

स्वेदन परिभाषा (Definition)–

शरीर से जिस क्रिया द्वारा स्वेद (पसीना) निकाला जाता है उस क्रिया को स्वेदन कहते हैं।

स्वेदन के लक्षण–(Symptoms of Svedana)

स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। (च. सू. 22/11)

जो शरीर की जकड़ाहट दूर करें, भारीपन दूर करें, शीत को दूर करें तथा पसीना लाए उसे स्वेदन कहते हैं।

स्निग्धस्य स्वेदनं कार्यमिति स्वेदोऽभिधीयते। (अ. ह. सू. 17/1)

स्निग्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर अथवा अंग विशेष को साग्नि अथवा निराग्नि, जिस भी प्रक्रिया से ऊष्मा द्वारा तपाना ही स्वेदन कहलाता है।

1. (b) स्वेदन की उपयोगिता एवं महत्त्व (Importance & utility of svedana)–

(अ.स.सू. 26/37, सु.चि.अ. 32/22)

1. स्तब्धता का नाश होना।
2. भारीपन का ह्रास होना।
3. पसीने का आना। (स्वेद निर्गमन)
4. शीतता का नाश होना।
5. दोषों का द्रवीकरण होना।
6. वायु का निग्रहन होना।
7. अंगों में मृदुता का आना।
8. अग्नि का प्रदीप्त होना।
9. त्वचा में निखार (प्रसादन) आना।
10. आहार में रुचि उत्पन्न होना।
11. निद्रा का नाश होना।
12. संधियों में सक्रियता का होना।
13. दोषों का शोधन होना।
14. स्रोतों के शोधन होने से शरीर से मल का निकलना।

2. स्वेदन के भेद (Classifications of sveda/svedana) –

विभिन्न आचार्यों के मतानुसार (According to different Acharyas)

आचार्य चरकानुसार (According to Charak)–

साग्नि स्वेद – 13 भेद

निराग्नि स्वेद – 10 भेद

आचार्य सुश्रुत व वाग्भट्टनुसार (According to Sushruta and Vagbhatta) – 4 भेद

चतुर्विधः स्वेदः तद्यथा–

तापस्वेदः ऊष्मस्वेदः उपनाह स्वेदो द्रवस्वेद इति।

अत्र सर्वस्वेद विकल्पावरोधः। (सु. चि. 32/3)

तथा स्वेदस्तापोपनाहोष्मा द्रवभेदाच्चतुर्विधः। (अ. ह. सू. 17/1)

डल्हण– तापनं तापः, ऊष्मा बाष्पः उपनाहने इत्युपनाहो बंधनमित्यर्थः द्रवतीति द्रवः कषायक्षीरादिः।।

तत्र तापस्वेदे कंदुक प्रहणादेय जेंताककर्षूकुटीकूपहोलाक इत्येताः पंचैवान्तर्भवन्ति।

ऊष्मस्वेदे संकरप्रस्तराश्मघननाडीकुंभीभूस्वेदाः षडप्यंतर्भवंति। द्रवस्वेदे परिषेकावगाहावंतर्भवतः।।

(सु. चि. 32/3 पर)

1. ताप स्वेद 2. उपनाह स्वेद 3. ऊष्म स्वेद 4. द्रव स्वेद

आचार्य काश्यपानुसार भेद (According to Kashyapa) – 8

जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविधं भिषक्। प्रयुंजीत यथाकालं रोगदेह व्यपेक्षया।।

हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तरसंकरा। उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाष्टमः।।

(का. सू. 23/25-26)

1. हस्त स्वेद 2. प्रदेह स्वेद 3. नाडी स्वेद 4. प्रस्तर स्वेद
5. संकर स्वेद 6. उपनाह स्वेद 7. अवगाह स्वेद 8. परिषेक स्वेद

बलानुसार स्वेद के भेद –3 (रोग व शरीर के बलानुसार एवं कालानुसार)

1. महान स्वेद 2. मध्यम स्वेद 3. मृदु स्वेद

द्वन्द्व भेद से–

एकांगः सर्वांगगतः, स्निग्धोरूक्षस्तथैव च।।

इत्येवं द्विविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितं।। (च. सू. 14/66)

---------द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।।

सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा।। (सु. चि. 32/16)

अग्नि अनुसार	गुण अनुसार	स्थान अनुसार	कर्म अनुसार	बाह्य आभ्यांतर अनुसार
साग्नि	स्निग्ध स्वेद	एकांग स्वेद	संशमनीय स्वेद	बाह्य स्वेद
निराग्नि	रूक्ष स्वेद	सर्वांग स्वेद	शोधनीय स्वेद	आभ्यांतर स्वेद

उपनाह-साग्नि व निराग्नि दोनों प्रकार के अन्तर्गत आता है।

द्वन्द्व भेद से स्वेदन-

दो- दो प्रकार के स्वेदन युग्मो का वर्णन इस प्रकार है।

(1) साग्नि एवं निराग्नि स्वेद

(2) एकांग एवं सर्वांग स्वेद

(3) स्निग्ध स्वेद एवं रूक्ष स्वेद

3. (a) उपयोग भेद से स्वेदन द्रव्य (Genaral Svedana Dravya)

1. पिण्ड स्वेद में प्रयुक्त द्रव्य–

तिलमाष कुलत्थाम्ल घृत तैलमिषौदनैः। पायसैः कृशरैर्मांसैः पिंडस्वेदं प्रयोजयेत्।।

गोखरोष्ट्र वराहाश्व शकृद्भिः सतुषैर्यवैः। सिकतापांशु पाषाण करीषायास पुटकैः।।

(च. सू. 14/25-26)

(1) तिल (2) माष (3) कुलत्थ (4) ओदन
(5) अम्लवर्ग के द्रव्य (6) घृत (7) तैल (8) मांस भात
(9) पायस (10) कृशरा (11) प्राणी (गाय-बकरी आदि) शकृत (12) तुष
(13) यव (14) बालुका (15) पत्थर
(16) करीष (सूखे गोबर का चूरा) (17) लोहे का चूरा

2. नाडी स्वेद व अवगाह स्वेदोपयोगी द्रव्य–

वारुणामृतकैरंड शिग्रुमूलक सर्षपैः। वासावंश करंजार्क पत्रै अश्मन्तकस्य च।।

शोभांजनक सैरेय मालती सुरसार्जकैः। पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाडी स्वेदं प्रयोजयेत्।।

.... एतएव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके।। (च. सू. 14/31-34)

(1) वरुण (2) गुडूची (3) एरण्ड मूल (4) शिग्रु त्वक्
(5) मूलक पचांग (6) सर्षप पत्र (7) वासा पत्र (8) वंश (बाँस पत्र)
(9) करंज पत्र (10) अर्क पत्र (11) अश्मन्तक पत्र (12) शोभान्जन पत्र
(13) सैरयक पत्र (14) मालती पत्र (15) सफेद तुलसी पत्र (16) काली तुलसी पत्र का क्वाथ
(17) दशमूल (18) भूतिक (19) मदिरा (20) दही का पानी
(21) गोमूत्र (22) कांजी

उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त काकोल्यादिगण-

काकोली क्षीरकाकोली जीवक ऋषभक मुद्गपर्णी माषपर्णी मेदा महामेदा छिन्नरुहा कर्कटशृंगी तुगाक्षीरी पद्मक प्रपौंडरीक ऋद्धि वृद्धिका जीवन्त्योमधुकंचेति॥ (सु. सू. 38/35)

(1) काकोली (2) क्षीर काकोली (3) जीवक (4) ऋषभक
(5) मुद्गपर्णी (6) माषपर्णी (7) मेदा (8) महामेदा
(9) गिलोय (10) काकड़ा शृंगी (11) वंशलोचन (12) पद्मकाठ
(13) प्रपौण्डरीक (श्वेत कमल) (14) ऋद्धि (15) वृद्धि (16) द्राक्षा
(17) जीवन्ती (18) मुलेठी

उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त एलादि गण :-

(1) एला (2) तगर (3) कुष्ठ (4) जटामांसी
(5) ध्यामक (रोहिस तृण) (6) दालचीनी (7) तेजपत्र (8) नागकेसर
(9) प्रियंगु (10) हरेणुका (11) व्याघ्रनख (12) शुक्ति (नखी भेद)
(13) चोरक (14) स्थौणेयक (15) श्रीवेष्टक (16) चोच (दालचीनी भेद)
(17) वालुक (खस भेद) (18) गुग्गुल (19) सर्जरस (राल) (20) तुरुष्क
(21) कुन्दुरु (22) अगरु (23) स्पृक्का(सुगंधित द्रव्य) (24) उशीर (खस)
(25) देवदारु (26) केशर (27) पुन्नागकेशर।

उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त सुरसादि गण-

सुरसाश्वेत सुरसा फणिज्झकार्जक भूस्तृण सुगंधक सुमुखकालमालकुठेरक कासमर्द क्षवक खरपुष्प विडंग कटफल सुरसी निर्गुंडी कुलाहलोंदुर कर्णिका फंजी प्राचीबल काकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति॥

(सु. सू. 38/18)

कृष्ण व श्वेत आदि 7 तुलसी भेद, निर्गुण्डी, वायविडंग आदि।

उपनाहार्थ चरकोक्त अन्य द्रव्य-

गोधूम शकलैश्चूर्णैर्यवानामम्ल संयुतैः।
सस्नेह किण्व लवणैरुपनाहः प्रशस्यते॥ (च. सू. 14/35)

गेहूँ का चोकर, जौ का आटा, लवण, अम्ल द्रव्य, स्नेह, सुराबीज (किण्व) आदि।

प्रस्तर स्वेद में उपयोगी द्रव्य- (च. सू. 14/42)

(a) शूक धान्य- लाल चावल, महाशाली, यव, उद्दालक, कोदो, श्यामाक, गेहूँ इत्यादि।

(b) शमी धान्य- मूंग, उड़द, कुलत्थ, मोठ, चना, मसूर, तिल इत्यादि।

शाल्वणादि स्वेद में प्रयुक्त सुश्रुतोक्त वातघ्न गण-

(a) भद्रदारु, भद्र द्रव्यादि, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण आदि।

(b) विदारिगन्धादि गण – शालपर्णी, भूमिकुष्माण्ड आदि।

(c) वातघ्न स्वेदन दशमूल-

(1) गोखरू (2) सरिवन (3) पिठवन (4) छोटी कटेरी (5) बड़ी कटेरी
(6) बिल्व (7) गनियार (8) पाढ़ल (9) गम्भारी (10) सोनापाठा।

3. (b) स्वेदन द्रव्यों के गुण और कर्म (Properties of swedan dravyas)

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरुच यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते॥ (च. सू. 22/16)

क्र.	गुण	कर्म	महाभूत प्रधान
1.	उष्ण-	**ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छा तृट् स्वेद दाहजित्।** **उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः॥** (सु. सू. 46/522) **स्वेदने उष्णः॥ हे.॥ तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ॥** (सु. सू. 41/15) स्तब्धतानाशक, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा और स्वेद को उत्पन्न करता है, अनुत्साहकारक आम पाचन, सारक और विकासकर होता है।	अग्नि
2.	तीक्ष्ण-	**दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा॥** (सु. सू. 46/525) **शोधने तीक्ष्णः॥हे.॥** **तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवात् हृत॥** (भा. प्र. पू. ख) दाह, पाक, स्रावकारक, कफवातनाशक, स्रावण की प्रक्रिया से शोधकारक होता है।	अग्नि
3.	सर-	अनुलोमन, प्रसरणशील, प्रवृत्तिशील।	वायु, जल
4.	स्निग्ध-	बलकारक, स्नेहन, वातहर, वृष्य, मार्दवकर होता है।	जल, पृथ्वी
5.	रूक्ष-	**शोषणे रूक्षः॥हे.॥** **रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतं॥** (भा. प्र. पू. ख.) कफहर, स्तम्भनकारक, रूक्षताकारक, खर होता है।	वायु, जल

			आकाश, जल, अग्नि
6.	सूक्ष्म-	सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश योग्य होता है, विकासशीलता	जल
7.	द्रव-	क्लेदन कारक, लालास्रावकारक, दोषों का विलयन कारक होता है।	
8.	स्थिर-	**स्थिरो वातमलस्तम्भी॥** भा. प्र. पू. ख.॥ **धारणे स्थिरः॥ हे.॥** एकांग में स्वेद करते समय उपयोगी होता है। जैसे- उपनाह, चिरकालिक, स्तंभकता	पृथ्वी
9.	गुरु-	बलकारक, बृंहणकारक, तर्पण करने वाला। सादं, उपलेप	पृथ्वी+जल

3. (c) स्वेदन कारक द्रव्य (Svedopag Dravya)

स्वेदोपग द्रव्य (स्वेदन में सहायक गण) – स्वेद की उत्पत्ति में सहायककारी द्रव्यों को स्वेदोपग कहते है, जिसका वर्णन आचार्य चरक ने स्वेदोपग गण के रूप में किया है।

शोभाञ्जनकैरण्डार्क वृश्चिर पुनर्नवा यव तिल कुलत्थ माष बदराणि इति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति॥

(च. सू. 4/8)

1. सहिजन 2. एरण्ड 3. श्वेत पुर्ननवा 4. रक्त पुर्ननवा 5. यव
6. तिल 7. कुलत्थ 8. उड़द 9. बेर 10. अर्क

सामान्य स्वेदन द्रव्य – कलमीशोरा, नौसादर, जवाखार, कुलथी, मदार, सहिजन की छाल, सोंठ, तुलसी, दालचीनी, एरण्डमूल, अतीस, नागरमोथा, कपूर, जौ, तिल, उड़द, सौंफ, देवदारु, फिटकरी, अंकोल आदि।

4. स्वेदन के योग्य व अयोग्य

स्वेदन के योग्य रोग व रोगी (Indications of Svedana)-

प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्याशिरः शूले स्वरभेद गलग्रहे॥

अर्दितैकांग सर्वांगपक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाहविबन्धेषु मूत्राघाते विजृम्भके। पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षीसंग्रहे गृध्रसीषु च॥ मूत्रकृच्छ्रे महत्वेचमुष्कयोरंग मर्दके। पादजानूरु जंघाति संग्रहे श्वयथावपि॥ खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकंटके। संकोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु। सर्वांङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते॥

(च. सू. 14/20-24)

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैव हि देहिनां। शोधनीयाश्च ये किंचित् पूर्वस्वेद्यास्तु ते मताः। पश्चात स्वेद्यान्ते शल्ये मूढगर्भा तुपद्रवाः। सम्यक् प्रजाता कालेया पश्चात्स्वेद्या विजानता।

स्वेद्याः पूर्वंच पश्चाच्च भगंदर्यर्शसनस्था।
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शेषानत्रान्ते प्रयत्नस्रे॥ (सु. चि. 32/17-19)

1. प्रतिश्याय 2. कास 3. हिक्का 4. श्वास
5. अंगगौरव 6. कर्णशूल 7. मन्याशूल 8. शिर शूल
9. स्वरभेद 10. गलग्रह 11. अर्दित 12. पार्श्वग्रह
13. मूत्राघात 14. पृष्ठग्रह 15. गृध्रसी 16. गुल्म
17. स्तम्भ 18. अंगशूल 19. एकांगवात 20. सर्वांगवात
21. पक्षाघात 22. आनाह 23. विबंध 24. जृम्भा
25. जानुशूल 26. ऊरुशूल 27. जंघाशूल 28. आमदोष
29. शैत्य 30. कम्पवात 31. खल्लीरोग 32. वातकंटक
33. संकोच 34. आयाम 35. गुरुता 36. सुप्तता
37. सर्वांगजाड्य 38. वमनार्ह 39. विरेचनार्ह 40. बस्ति योग्य
41. नस्यार्ह 42. मूढगर्भ 43. अश्मरी पूर्व व पश्चात् 44. अर्श पूर्व व पश्चात्
45. भगन्दर पूर्व व पश्चात् 46. अर्बुद, ग्रंथि 47. कुक्षीशूल 48. शोथ
49. आढ्यवात स्तोथ है।

संक्षिप्त में :-

1. कुछ वातप्रधान रोग मन्यास्तम्भ, पक्षाघात आदि।
2. कुछ कफप्रधान रोग- प्रतिश्याय, कास आदि।
3. कुछ शोधन योग्य रोग व रोगी
4. कुछ शल्यकर्म योग्य- जिन्हें पहले व बाद में स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindications of Svedana) –

कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनां। पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनां॥
विदग्धभ्रष्टब्रध्नानां विषमद्यविकारिणां। श्रांतानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनां॥
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि। कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणां॥
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा। भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्–

(च. सू. 14/16 से 19)

पांडुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी॥ (सु. चि. 32/25)

1. नित्य मद्य सेवी 2. गर्भिणी 3. रक्तपित्त रोगी 4. अतिसारी 5. मधुमेही
6. पित्त प्रकृति 7. रूक्षशरीर 8. विदग्धगुदा 9. भ्रष्ट गुदा 10. विष पिड़ित
11. श्रान्त 12. नष्टसंज्ञ 13. स्थूलकाय 14. पित्तमेही 15. तृषित
16. क्षुधित 17. क्रुद्ध 18. शोकग्रस्त 19. कामला 20. उदररोगी

21. क्षत 22. तिमिर 23. अजीर्ण 24. कषाय पायी 25. मद्य विकारी
26. वात रक्त 27. दुर्बल 28. शुष्क देह 29. ओजः क्षयी 30. पाण्डु रोगी

5. साग्नि स्वेदन (13 types of Sagni Svedana and chaturvidh svedana)

साग्नि स्वेदन के 13 प्रकार (13 types of Sagni Svedana)

संकरः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कूर्षः कुटी भूः कुम्भिकैव च॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदशः॥ (च. सू. 14/39-40)

1. संकर 2. प्रस्तर 3. नाड़ी 4. परिषेक 5. अवगाहन
6. जेनाक 7. अश्मघन 8. कर्षू 9. कुटी 10. भू
11. कुम्भी 12. कूप 13. होलाक

1. संकर स्वेद (Mixed fomentation) –

तत्रवस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिंडैर्यथोक्तैरुपस्वेदनम् संकरस्वेद इति विद्यात्॥ (च. सू. 14/41)

पिंडैर्यथोक्तैरिति तिलमाषादिपिंडैः, तथा गोखरादि ग्रंथोक्त संपुटकरूपैश्च पिंडैः स्वेदनमेवोपस्वेदनम्। (चक्रपाणि)

परिचय- स्वेदन द्रव्यों (तिल, उड़द, कुलथी, मांस आदि) को कूट पीसकर पोट्ली बनाकर, सुखोष्ण करके जो स्वेदन किया जाता है उसे संकर स्वेद कहते है।

संकर अर्थात् मिश्रण अर्थात् दो या अधिक द्रव्यों के सम्मिश्रण से बना। अर्थात् इसमें द्रव्यों को मिलाकर उन्हें पिण्डाकार बनाकर स्वेदन किया जाता है। पिण्ड बनाने के कारण इसे पिण्ड स्वेद भी कहा जाता है। इससे शरीर में साक्षात् (सीधे) ताप पहुँचाया जाने के कारण इसे ताप स्वेद भी कहा जाता है।

संकर स्वेद के दो भेद –

(1) स्निग्ध स्वेद (2) रूक्ष स्वेद

1. स्निग्ध संकर स्वेद-तिल, उड़द, चावल आदि को पायस (खीर), मांस, मांसरस तथा अम्लवर्ग के द्रव्यों के साथ पकाकर पोटली बनाते हैं फिर उस पोटली को ऊष्ण पायस, दूध या मांसरस में डुबोकर स्वेदन किया जाता है।

इस प्रकार के स्वेदन का प्रयोग वात व्याधि या वात प्रधान रोगों में किया जाता है।

2. रूक्ष संकर स्वेद – गाय, बकरी, घोड़ा, गधा आदि के सूखे पुरीष, लोहे के पिण्ड, धूल, बालू आदि की पोटली से गरम-गरम स्वेदन करना रूक्ष संकर स्वेद कहलाता है।

बालुका स्वेद – यह एक प्रकार का रूक्ष संकर स्वेद है। इसका प्रयोग आमदोष, ऊरुस्तम्भ, मेदोरोग, ग्रंथि, कफज विकार और सशोथ शूल में होता है।

विधि- स्वच्छ नदी की बालू लेते है जिसमें कंकड़ पत्थर नहीं हो तथा जो बालू न तो अति सूक्ष्म हो न ही मोटे दाने वाली हो। उस बालुका को लेकर लोहे या मिट्टी की कड़ाई में गरम कर लेते है तथा उस बालु को लेकर पोटली बना लेते है। उस सुखोष्ण पोटली को अंगो पर स्वेदन किया जाता है।

बालुका की तरह ही लवण (मोटा-डली वाला नमक) द्वारा स्वेदन करते है जिसे लवण पोट्ली स्वेद कहते है। सन्धियों पर वर्तुलाकार और लम्बे अंगों पर दीर्घाकार स्वेदन किया जाता है। 5-10 मिनट के अंतर पर पोटली के ठण्डा होने पर पोटली बदल कर गरम कर लिया जाता है। प्रतिदिन 20-40 मिनट तक स्वेदन करके रोगी को अल्प उष्ण, निवात तथा वस्त्र द्वारा ओढ़ाकर रखा जाता है।

2. प्रस्तर स्वेद (Hot bed Sudation) –

शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पंचांगुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्त सर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्॥

(च. सू. 14/42)

प्रधान वस्तु- पुरुष के सोने योग्य एक पत्थर की चौकी जो लगभग 6 फुट लम्बी, 2½ फुट चौड़ी तथा 2 फुट ऊँची हो।

सहायक द्रव्य – शूकधान्य (चावल, गेहूं), शमीधान्य (उड़द, मूंग, चना), वेशवार (निरस्थि मांस) खीर व खिचड़ी जो लगभग सभी मिलाकर 5 किलोग्राम हो।

विधि- फिर उस चौकी पर शूकधान्य (चावल, गेहूँ, यव आदि) शमीधान्य (उड़द, मूंग, चना, कुलथी आदि) क्षुद्रधान्य (हड़ुनी, चीना, सांवा, कोदो) इनकी खिचड़ी अथवा वेशवार (निरस्थि मांस) खीर या तिल, माष और चावल की खिचड़ी अथवा इन द्रव्यों को पकाकर गरम गरम मोटी परत के रूप में पत्थर की चौकी पर फैला देते हैं फिर उसके ऊपर ऊन या रेशम की चादर या रक्त एरण्ड के पत्ते या अर्क के पत्ते बिछाकर उस पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए रोगी को सुला देते हैं फिर उस रोगी के ऊपर ऊन या रेशम की चादर या वात नाशक पत्ते जैसे एरण्ड या अर्क से ढक दिया जाता है। इस प्रकार इस विधि से सम्पूर्ण शरीर का एक साथ स्वेदन हो जाता है।

उपयोग-पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, श्रोणिशूल, कटिशूल, गृध्रसी, खल्ली रोग में यह प्रस्तर स्वेद लाभकारी होता है।

3. नाड़ी स्वेद (Steam kettle Sudation)

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्र शुङ्गादीनां मृगशकुनि पिशितशिरः पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुंभ्यां बाष्पमनुद्वमन्त्यामुत्क्वथितानां नाड्या शरेषिकावंशदल करंजार्कपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्त संस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्ध दीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभागमूल मूलाग्रपरिणाह स्रोतसा सर्वतो वातहरसंवृतछिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहर सिद्ध स्नेहाभ्यक्त गात्रो बाष्पमुपहरेत्। बाष्पोह्यनृजुगामी विहतचंडवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः॥ (च. सू. 14/43)

क्वाथ द्रव्य – (1) सहिजन, (2) एरण्ड, (3) मदार, (4) श्वेत पुनर्नवा (5) रक्त पुनर्नवा (6) यव, (7) तिल, (8) कुलथी, (9) उड़द, (10) बेर इन द्रव्यों के मूल, पत्र, शुङ्ग तथा ऊष्ण स्वभाव वाले हिरण आदि पशुओं तथा पक्षियों के शिर, पैर आदि का मांस रोगानुसार अम्ल, लवण, तैल, मूत्र, दूध आदि द्रव्य पदार्थों को क्वाथ बनाने में प्रयोग किया जाता है।

सामान्यतः नाड़ी स्वेदन हेतु दशमूल का क्वाथ प्रयोग में लेते हैं।

प्रधान वस्तु- घट तथा नली (नाड़ी)। वर्तमान में कूकर या आटो क्लेव का प्रयोग करते हैं।

घट– यह क्वाथ निर्माण हेतु लिया जाता है यह ढक्कनदार लेना चाहिए जिससे वाष्प क्वाथ बनाते समय बाहर नहीं निकल पाए। इस घट के पार्श्व में एक छिद्र होना चाहिए जिसमें छिद्र में नली (नाड़ी) को जोड़ा जा सके।

नाड़ी/नली नली बनाने हेतु खोखले लकड़ा या सींक या बांस की नली, करंज पत्र या अर्क पत्र का प्रयोग किया जाता है। नली की लम्बाई एक व्याम (लगभग 6 फुट) होती है।

वाष्प के वेग को रोकने के लिए नली 3 स्थानों से मुड़ी हुई होती है। नली का घट से जोड़ने वाला छोर चौथाई व्याम (18 इंच) चौड़ा तथा दूसरा छोर व्याम का आठवां (9 इंच) चौड़ा होना चाहिए। यह नली हाथी की सूंड के समान उतार चढ़ाव वाली होती है। नली छिद्र रहित होनी चाहिए। आजकल इस हेतु रबड़ की नली या गैस पाइप का प्रयोग करते हैं।

विधि– उक्त क्वाथ द्रव्यों को लेकर उचित अनुपात में घट में क्वाथ बना लिया जाता है। परन्तु सीधे क्वाथ द्रव्य डालने पर यदि कुकर या आटोक्लेव का प्रयोग करते हैं तो उनके छिद्र बंद होकर उनके फटने की सम्भावना होती है अतः क्वाथ द्रव्य को एक पोटली में बांधकर कुकर आदि में डालना चाहिए जिससे दुर्घटना होने की सम्भावना न हो। जब क्वाथ से वाष्प निकलने लगे तब नली से पीड़ित अंग पर रूग्ण व्यक्ति का स्वेदन किया जाता है। स्वेदन से पूर्व उक्त रोगी को वातनाशक तैल से अभ्यंग करा लेना चाहिए।

समयावधि – प्रतिदिन 10 से 15 मिनट अथवा सम्यक् स्वेदन होने तक और कम से कम 7, 14 या 21 दिन तक रोग की अवस्थानुसार करना चाहिए।

प्रयोग – गृध्रसी, पृष्ठशूल, कटिशूल, पक्षाघात, अर्दित, संकोच, मांसगत वातविकार में लाभकारी।

4. परिषेक स्वेद (Affusion Sudation) –

वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुंभीर्वर्षुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हं सिद्धस्नेहाभ्यक्तं गात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः॥ (च. सू. 14/44)

परिचय– वातघ्न या वातकफघ्न औषधों के क्वाथ से शरीर पर धारा गिराना परिषेक कहलाता है।

विधि– रोगानुसार औषध सिद्ध तैल से रोगी के शरीर का अभ्यंग कराकर रोगी को हल्की चादर से ढक दिया जाता है फिर नाड़ी स्वेद में प्रयुक्त द्रव्यों के मूल, पत्र आदि का क्वाथ बना लेते हैं। उस क्वाथ को छोटे कुंभ, सुराही वर्षुलिका या फूल सींचने वाले पात्र में भरकर फव्वारे के समान शरीर पर गिराकर यह स्वेदन किया जाता है।

इसमें क्वाथ के स्थान पर तैल, घृत, दुग्ध आदि की सुखोष्ण धारा से भी यह स्वेदन किया जा सकता है। इसमें द्रव को 12 अंगुल की ऊँचाई से शरीर पर गिराया जाता है।

समयावधि– ½ से 1 घण्टे तक

उपयोग – गुल्म, आनाह, तूनी, प्रतितूनी, शूल, उदावर्त, अष्ठीला, आध्मान में एकांग स्वेद किया जाता है।

5. अवगाहन स्वेद (Tub-bath Sudation)

वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एव अवगाहः॥ (च. सू. 14/45)

परिचय– अवगाह का अर्थ "मज्जन" करना होता है। अर्थात् शरीर का आधा भाग (कटि प्रदेश) जल, क्वाथ या स्नेह में डूबा होता है।

आवश्यक सामग्री– दशमूल क्वाथ, निर्गुण्डी क्वाथ, बलादि क्वाथ आदि एरण्ड मूल सिद्ध जल, वातहर द्रव्य सिद्ध तैल, घृत, मांसरस या उष्ण जल।

विधि– क्वाथ द्रव्य या घृत, तैल या उष्ण जल को टब या द्रोणी में भरा जाता है फिर उस द्रोणी/टब में वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को बिठाकर या सुलाकर अंगों पर उष्ण जल या क्वाथ आदि से (सिंचन) छिड़काव कर यह स्वेदन किया जाता है।

उपयोग – सर्वांगव्यापी वातरोगी, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी शूल, कटिशूल, पृष्ठशूल, गृध्रसी, संधिवात आदि में।

अवधि – एक मुहूर्त से चार मुहूर्त (½ से 1 घण्टा)

(अवगाहन टब)

अवगाहन स्वेद– (क्वाथ द्वारा)

अवगाहन स्वेद – विशेषकर कटि भाग (जल द्वारा)

13. होलाक स्वेद (Under bed sudation)-

धीतिकां तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्। शयनानः प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च॥

सुदग्धायां विधूतायां यथोक्तामुपकल्पयेत्। स्वच्छदः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखं॥

होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा॥ (च. सू. 14/61 से 63)

चारपाई के नीचे रखने लायक (लगभग 5 फुट लम्बी 2 फुट चौड़ी) एक अंगीठी तैयार करें या 4 छोटी अंगीठी जो चारपाई के नीचे समानान्तर रखी जा सकें। फिर उसमें हाथी, घोड़े आदि के सूखे हुए पुरीष को भरकर आग लगा दें। निर्धूम हो जाने पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए रोगी को चारपाई पर लिटाकर ऊपर से चादर से ढक दें।

इस प्रकार के सुखपूर्वक स्वेदन को होलाक स्वेदन कहते हैं।

स्वेदन यंत्र (बिठाकर)

(सोना बाथ चैम्बर)

नाड़ी स्वेदन करते हुए

नाड़ी स्वेदन यंत्र

नाड़ी स्वेदन

स्वेदन यंत्र (लिटाकर)

चतुर्विध स्वेदन (Chaturvidha Svedana)

आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट्टानुसार–

(1) ताप स्वेद (2) उपनाह स्वेद (3) ऊष्म स्वेद (4) द्रव स्वेद

(1) ताप स्वेद :–

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्य कंदुककपाल वालुका वस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चांगतापो बहुशः खदिरांगारैरिति॥ (सु. चि. 32/4)

तत्र तापस्वेदे कंदुक ग्रहणादेव जेंताक कर्षूकुटी कूप होलाक स्वेदाः। पंचैवांतर्भवंति॥ (डल्हण)

जिसमें अग्नि के द्वारा तपाये गए वस्त्र, हथेली से या कांसे के पात्र से, कन्दुक से, कपाल-खर्पर से या लोहे के काल से शरीर का स्वेदन किया जाता है।

हस्त स्वेद – इसका वर्णन काश्यपसंहिता में प्राप्त होता है। इसमें चार मास के बालकों को हस्त स्वेद करने को कहा है। हाथों को परस्पर रगड़कर उनसे स्वेद किया जाता है। यह अत्यंत मृदु प्रकार का स्वेद है।

(2) उपनाह स्वेद

उपनाह्यते इत्युपनाहो, बंधनमित्यर्थः।

उपनाह शब्दस्तु इह 'णह, बंधने इत्यस्येति उपनाही बंधनम्॥ (डल्हण, सु. चि. 32/3 तथा 12 पर)

औषध द्रव्यों के कल्क आदि को अंगों पर बांधकर स्वेदन करना उपनाह स्वेद कहलाता है।

आचार्य सुश्रुतानुसार यह 3 प्रकार का होता है।

(a) प्रदेह (b) पिण्ड स्वेद (c) बंधन

(a) प्रदेह –

उपनाह स्वेदस्तु वातहर मूलकल्कैरम्ल पिष्टै लवण प्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः

प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिः एलादिभिः सुरसादिभिः

तिलातसी सर्षप कल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः

शाल्वणैः वा तनु वस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्॥ (सु. चि. 32/12)

वातनाशक द्रव्यों के मूल, पत्र आदि के कल्क में अम्ल द्रव्य और नमक मिलाकर लेप कर स्वेदन करना।

6. जेंताक स्वेद (Sudatorium Sudation) –

अथ जेंताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत्– तत्र पूर्वस्यां दिशि उत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप पुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्त भूमिभागे सप्ताष्टौ वा अरत्नी उपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वाभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात् सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्नं अनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तः, समन्ततोभित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेत् आकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कु मात्रम् पुरुष प्रमाणं मृण्मयं कंदुकसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रम् अंगारकोष्ठकस्तंभं सपिधानं कारयेत्। तं च खदिराणामश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमानि, अवतप्तं केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा योग्यमिति तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्। प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्, 'सौम्य, प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति। प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापर पार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च त्वया स्वेद मूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्या आ प्राणोच्छ्वासात्। भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकाव–काशात् द्वारमनधिगच्छन् स्वेद मूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान् जह्याः। तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथंचन मुञ्चेथाः। त्वं यदा जानीयाः– विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक्प्रस्नुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगत विबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनु सरन् द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः। अपगत संताप क्लमस्तु मुहूर्तात्सुखोष्णेन वारिणा परिषिक्तोऽश्नीयाः इति जेंताकस्वेदः॥ (च. सू. 14/46)

परिचय – स्वेदन हेतु एक वर्तुलाकार (गोलाकार) कमरे के बीच चिमनी बनाकर उसमें निर्धूम अग्नि प्रज्वलित कर कमरे को गर्म कर तब रोगी को प्रविष्ट करवाया जाता है यह एक विशिष्ट प्रकार की स्वेदन विधि है। उस कमरे को कूटागार तथा स्वेदन को जेंताक स्वेद कहते हैं।

आवश्यक उपकरण – कूटागार, अंगारकोष्ठक (भट्ठी)

कूटागार – कूटागार बनाने के लिए सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा की जाती है।

(1) दिशा– कूटागार आबादी के पूर्व या उत्तर दिशा में

(2) मिट्टी– जहाँ की मिट्टी उत्तम हो, काली हो या सुनहरी हो तथा निकट में बावड़ी पोखर या जलाशय हो उस भूमि में कूटागार बनाना चाहिए। जलाशय के दक्षिण या पश्चिम की ओर जहाँ उत्तम आरामदेह सीढ़िया बनी हो, भूमि समतल हो तथा जल से 10-12 फीट की दूरी पर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जलाशयाभिमुख द्वार वाला गोल कमरा बनाते हैं।

(3) माप–उस कमरे का व्यास 16 हाथ हो और ऊँचाई भी 16 हाथ हो। कूटागार की दिवार मिट्टी से लिपी-पुती हो। सभी दिशाओं में दिवार में छोटे-छोटे रोशनदान या वातायन हों। कूटागार की भीतरी दिवार से सटे 1½ फुट चौड़ी 1½ फुट ऊँची पट्टी बनाएं, जो चारों ओर हो पर दरवाजे पर न हो। यह पट्टी या चबूतरा रोगी के सोने के लिए बनायी जाती है।

अंगारकोष्ठक (भट्टी)– कूटागार के एकदम बीच में एक अङ्गारकोष्ठक स्तम्भ (तन्दूर या भट्ठी) बनाएँ। यह 4½ हाथ व्यास का तथा 3 हाथ ऊँचा हो। इसी दिवार में वायु के प्रवेश हेतु बहुत से छिद्र हों और इसके ऊपर ढक्कन हो। इसमें खैर, पलाश आदि की सूखी लकड़ी डालकर जलाया जाता है। जब अग्नि निर्धूम हो जाए तथा कूटागार पूरा गरम हो जाए तब रोगी को उसमें प्रवेश कराया जाता है।

विधि– रोगी को वातहर तैल से अभ्यंग कराकर चादर ओढ़ाकर कूटागार में प्रवेश करवाया जाता है और उसे आदेश दिया जाता है कि हे सौम्य! तुम अपने रोग की मुक्ति और अपने कल्याण के लिए इस कूटागार में प्रवेश करो। भीतर प्रविष्ट होकर दीवार से सलग्न चबूतरे पर करवट बदल-बदल कर सुखपूर्वक सोना। स्वेद से मूर्च्छा होने पर भी चबूतरा मत छोड़ना नहीं तो द्वार का पता न चलने पर शीघ्र ही प्राण त्याग दोगे। अतः किसी भी परिस्थिति में चबूतरा मत छोड़ना।

जब यह प्रतीत हो कि सम्यक् स्वेदन हो गया है शरीर हल्का हो गया है स्तब्धता, भारीपन, शून्यता, वेदना का नाश हो गया है तब चबूतरे के सहारे द्वार पर आकर बाहर निकल आना।

बाहर निकलने पर रोगी की आँखों की रक्षा हेतु तुरन्त ठण्डे जल का प्रयोग नहीं किया जाता अपितु 1 मुहूर्त (48 मिनट) बाद सुखोष्ण जल से स्नान कराना चाहिए। उसके पश्चात् भोजन करना चाहिए।

7. अश्मघन स्वेद (Stone bed Sudation) –

शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम्। तापयित्वा मारुतघ्नैः दारुभिः संप्रदीपितैः॥

व्यपोह्य सर्वानंगारान् प्रोक्ष्य चैवोष्ण वारिणा। तां शिलामथ कुर्वीत कौषेयाविक संस्तराम्॥

तस्यां स्वभ्यक्त सर्वांगः स्वपन् स्विद्यति नासुखं। कौरवाजिन कौषेय प्रावारादैः सुसंवृतः॥ (च. सू. 14/48)

इत्युक्तो अश्मघनः स्वेदः......। कर्षूः आभ्यंतरविस्तीर्णोऽल्पमुखो गर्तः॥ (च. पा.)

पुरुष के सोने योग्य लम्बी (6 फुट तथा 2½ फुट चौड़ी) दृढ़ समतल पत्थर की एक शिला लेते हैं। उस पर वातनाशक देवदारु, दशमूल आदि काष्ठ लेकर जलाते हैं जब शिला गरम हो जाती है तब आग हटाकर उसे उष्ण जल से धो देते हैं। फिर शिला का पानी सुखाकर उस पर ऊनी या रेशमी चादर बिछा देते हैं। फिर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुये रोगी को उस पर लिटा दिया जाता है तथा ऊपर से उसे ऊनी चादर या रेशमी चादर या कम्बल से ढक दिया जाता है। इस प्रकार सुख पूर्वक उसका स्वेदन हो जाता है।

अश्मघन व प्रस्तर स्वेद में अंतर – यह स्वेदन प्रस्तर स्वेद जैसा ही है। परन्तु अन्तर इतना ही है कि इसमें शिला पर वातनाशक काष्ठ जलाकर स्वेदन किया जाता है जो एक प्रकार का रूक्ष स्वेद है और प्रस्तर स्वेद में शिला पर धान्य आदि पकाकर शिला पर बिछाते हैं फिर रोगी को सुलाकर स्वेदन किया जाता है। प्रस्तर स्वेद एक प्रकार का स्निग्ध स्वेद है।

8. कर्षू स्वेद (Trench Sudation) –

.... कर्षू स्वेदः प्रवक्ष्यते। खानयेच्छयनस्याधः कर्षूं स्थानविभागवित्॥

दीप्तैरधूमैरंगारैस्तां कर्षूं पूरयेत्ततः। तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्॥ (च. सू. 14/50-51)

कर्षू ऐसे गर्त (गड्ढा) को कहते हैं जो भीतर से विस्तृत हो और मुख कम चौड़ा हो। इस प्रकार के गर्त में वातनाशक देवदारु आदि के अंगारे भर दें और उसके ऊपर चारपाई बिछा दें।

उस पर एरण्डपत्र, धत्तूरपत्र, मदार पत्र बिछा दें फिर चारपाई पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को लिटाकर चादर से ढक कर स्वेदन करना कर्षू स्वेद कहलाता है।

9. कुटी स्वेद (Cabin Sudation)-

अनत्युत्सेध विस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम्। घनभित्तिं कुटिं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्॥

कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत्। प्रावाराजिन कौशेय कुथ कंबल गोलकैः॥

हसंतिकाभिरंगार पूर्णाभिस्तां च सर्वशः। परिवार्यान्तरा रोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम्॥

(च. सू. 14/52 से 54)

एक ऐसा छोटा कमरा जो न तो अधिक चौड़ा हो और न ही अधिक ऊँचा हो, गोलाकार हो तथा उसमें रोशनदान या कोई भी छिद्र न हो। (जैसे अन्न या भूसा भण्डारण के लिए बनाते हैं) उस कमरे की दिवारें मोटी हो और भीतर से कूठ आदि उष्ण औषधियों के कल्क से लेपन किया गया हो।

फिर इस प्रकार के कमरे में चारपाई बिछाकर उस पर ऊनी चादर या रेशमी चादर या कम्बल बिछा देते हैं। उस चारपाई पर अभ्यंग किए हुए रोगी पुरुष को लिटा दें। और उसे ऊनी चादर या कम्बल से ढक दें। फिर धूम रहित जलते अंगारों से युक्त अंगीठियाँ उस चारपाई के चारों तरफ रखें। इस प्रकार जो सुखपूर्वक स्वेदन किया जाता है वह कुटी स्वेद है।

कुटी व जेन्ताक स्वेद में अन्तर- यह जेन्ताक स्वेद का विलोम है। इसमें रोगी के चारों तरफ अंगीठियाँ रखकर स्वेदन होता है और जेन्ताक स्वेद में बीच में अङ्गारकोष्ठक होता है तथा रोगी दिवार के चबूतरे पर घूम-घूम कर स्वेदित होता है।

10. भू-स्वेद (Ground bed Sudation)-

य एवाश्मघनः स्वेदः विधिर्भूमौ स एव तु।

प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते॥ (च. सू. 14/55)

भू अर्थात् भूमि पर स्वेद करना।

अश्मघन स्वेद विधि को भूमि पर करना भू-स्वेद कहा जाता है।

निवात, प्रशस्त और समतल भूमि पर देवदारु आदि वातघ्न काष्ठ जलाकर उस पर पानी के छींटे डालकर बुझा दें तथा राख को हटाकर साफ कर देते हैं और उस पर ऊनी चादर बिछाकर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को लिटाते हैं तथा उसे ऊनी चादर या कम्बल से ढक देते हैं। इस प्रकार का स्वेदन भू स्वेद कहलाता है।

11. कुम्भी स्वेद (Pitcher bed Sudation)-

कुंभी वातहर क्वाथ पूर्णां भूमौ निखानयेत्। अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि॥

स्थापयेदासनं वापि नातिसान्द्रं परिच्छदम्। अथ कुंभ्यां सुसंतप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान्॥

पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति नासुखं। सुसंवृतांगः स्वभ्यक्तः स्नेहैरनिलनाशनैः॥

(च. सू. 14/56 से 58)

वातनाशक औषधों के क्वाथ को सम्पूर्ण भरी हुई एक हाण्डी या मटकी को लेकर उसका आधा या तिहाई भाग तक जमीन में गाड़ दें। फिर उसके ऊपर एक चारपाई बिछा दें या कुर्सी का भी प्रयोग कर सकते हैं और चारपाई के ऊपर ऊनी चादर या रेशमी चादर को बिछा दें। फिर अभ्यंग किए हुए रोगी पुरुष को उस चारपाई पर लिटा दें तथा उसे ऊपर से ऊनी चादर से ढक दें। फिर लोहे के गोले या पत्थर के टुकड़ों को आग में तपाकर उस हाण्डी/मटकी में डालते जाएँ। जिससे वाष्प उत्पन्न होती है इस वाष्प द्वारा स्वेदन होना कुम्भी स्वेद कहलाता है।

सावधानी :- चारपाई या कुर्सी पर चादर इस प्रकार बिछानी चाहिये जिससे वह जमीन को चारों ओर से ढक ले अन्यथा उत्पन्न वाष्प एकत्रित नहीं हो पाएगी।

12. कूप स्वेद (Pit Sudation)-

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः। देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम्॥

हस्त्यश्वगो खरोष्ट्राणां पुरीषैर्दग्ध पूरिते। स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभ्यक्तः स्विद्यति नासुखं॥

(च. सू. 14/59-60)

कूप का अर्थ होता है कुआं

यह एक प्रकार का रूक्ष स्वेद है।

निवात समतल और प्रशस्त स्थान में चारपाई की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार लम्बा, चौड़ा तथा गहराई में लम्बाई से दुगना गहरा कुआँ खुदवाएं (6 फुट लम्बा 2½ फुट चौड़ा 12 फुट गहरा) फिर इसकी भीतरी भाग की दिवारों की वातनाशक औषधियों का लेप करें। फिर इस कुएं में हाथी, घोड़ा, गाय, खर, ऊँट के सूखे पुरीष को डालकर जला दें। जब कुआँ निर्धूम हो जाए तब चारपाई बिछाकर उसके ऊपर ऊनी चादर या कम्बल बिछाकर अभ्यंग किए हुए पुरुष को लिटा दें तथा उसे चादर से ढक दें। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है इसे कूप स्वेद कहते हैं।

कर्षू व कूप स्वेद के भेद :-

	कर्षू स्वेद		कूप स्वेद
1.	इसमें गढ़े का भीतरी भाग बड़ा और ऊपर से पतला होता है।	1.	इसमें गर्त का ऊपरी भाग अधिक खुला रहता है।
2.	इसमें काष्ठ की अग्नि जलती है और देर तक ताप रहता है।	2.	पशुओं का पुरीष जलाते हैं जो जल्दी ही बुझ जाता है जिससे ताप कुछ समय तक ही रहता है।
3.	अधिक समय तक आँच रहने से उत्तम स्वेद है।	3.	यह अल्पस्थायी तथा ज्यादा ऊष्मा वाला स्वेद है।
		4.	यह रूक्ष स्वेद है।

(b) पिण्ड स्वेद -

संकरस्वेदमपि मधूपनाह स्वेद एव हर्षेणाह एवमित्यादि।

एभिरेव पोटलिका बद्धा स्वेदयेत्॥ (डल्हण, सु. चि. 32/12 पर)

काकोल्यादि गण, सुरसादिगण एवं एलादि गण की औषधों को तिल, सरसों आदि के कल्क के साथ खिचड़ी, खीर, उत्कारिका, वेशवार आदि को किसी कपड़े में बांधकर उसे तपा-तपाकर स्वेदन करना पिण्ड स्वेद कहलाता है।

(c) बंधन-

उपनाहोपचा क्रिया शताद्या देवदारुभिः। धान्यैः समस्तैः गंधैश्च रास्नेरंड जटामिषैः॥

उद्रिक्तलवणा स्नेह चुक्रतक्रपयः प्लुतैः।......स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिः चर्मपट्टैरपूतिभिः॥

अलाभे वातजित्पत्र कौशेयाविक शाटकैः। रात्रौ बद्धा दिवा मुंचेद् मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम्॥

(अ. ह. सू. 17/2-5)

पिण्ड स्वेद के द्रव्यों को कपड़े पर रखकर पीड़ित अंगों पर सुखोष्ण पट्टी बांधना। रात का बंधन दिन में तथा दिन का बँधा रात में खोल देना चाहिए।

(3) ऊष्म स्वेद

ऊष्मा का अर्थ है- वाष्प। अर्थात् वाष्प द्वारा स्वेद करना ऊष्म स्वेद कहलाता है।

सुश्रुत ने पिण्ड स्वेद, कुम्भी, नाड़ी, अश्मघन, कुटी और प्रस्तर स्वेद इन सभी विधियों द्वारा ऊष्म स्वेद करना बताया है।

(4) द्रव स्वेद

द्रवस्वेदस्तु वातहर क्वाथ पूर्णं कोष्ण कटाहे द्रोण्यां वावगाह्य स्वेदयेत् एवं पय मांसरस यूषतैल धान्याम्ल घृतवसा मूत्रेष्ववगाहयेत्। एभिरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिंचेदिति॥ (सु. चि. 32/13)

द्रव पदार्थ द्वारा स्वेदन करना द्रव स्वेद कहलाता है।

द्रव में वातहर क्वाथ, दुग्ध, मांसरस, यूष, तैल, घृत, धान्याम्ल, वसा और गोमूत्र का उपयोग किया जाता है।

परिषेक और अवगाह स्वेद - ये द्रव प्रकार के स्वेद हैं।

स्वेदन के समय सावधानियाँ (Precaution during Svedana)-

1. स्वेदन निर्धारित समयानुसार करना चाहिए।
2. रोगी की गतिविधि तथा शारीरिक स्थिति को देखते रहना चाहिए।
3. ज्यादा गरम या अनुष्ण स्वेद हानिकारक होता है। दग्ध न हो पाए इसका ध्यान रखना चाहिए।
4. स्वेदन के सम्यक् योग, हीनयोग या अतियोग के लक्षणों को देखते रहना चाहिए।
5. सम्यक् योग के लक्षण प्रकट होने पर स्वेदन बंद कर देना चाहिए।

वृषणौ हृदयं दृष्टि स्वेदयेन्मृदुनैव वा।

मध्यमं वंक्षणौ शेषमंगावयवमिष्टतः॥ (च. सू. 14/10)

6. वृषण, हृदय, नेत्र इनका स्वेदन नहीं करना चाहिए। अथवा आवश्यकता होने पर गीला वस्त्र, मुक्ता हार तथा शीतल लेप का प्रयोग कर मृदु स्वेद करना चाहिए।

7. नेत्र का स्वेदन करने से पूर्व इन्हें कमल पत्र या स्वच्छ कपड़े से पूरी तरह ढक कर मृदु स्वेद करना चाहिए।

6. निराग्नि स्वेद (Ten types of Niragni Sveda)

व्यायाम उष्ण सदनं च गुरुप्रावरणं क्षुधा।

बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः॥ (च. सू. 14/64)

1. व्यायाम	2. उष्णसदन	3. गुरुप्रावरण	4. क्षुधा	5. बहुपान
6. भय	7. क्रोध	8. उपनाह	9. आहव	10. आतप

निराग्नि स्वेदन की विधियाँ (Non-Thermal Sudation methods)

निराग्नि स्वेद - 10 (चरकानुसार)

1. व्यायाम (Excerise) -

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। (सु. चि. 24/38)

शरीर को थका देने वाला श्रम व्यायाम कहलाता है।

ललाट पर पसीना आने तक व्यायाम करना चाहिए। स्थौल्य दूर करने के लिए व्यायाम सर्वोत्तम चिकित्सा है।

2. उष्णसदन (Warm rooms) -

उष्ण सदनं इत्याग्निसंताप व्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया यद् गृहं स्वेदयति, तत् बोद्धव्यम्॥

(च. पा. च. सू. 14/64 पर)

अर्थात् उस गरम घर से है जो बिना अग्नि संयोग के ही गर्म हो। इस घर की दीवार मोटी हो, प्रवेश हेतु एक ही द्वार हो तथा कोई झरोखा नहीं होता।

3. गुरुप्रावरण (Heavy clothing) - गर्म रजाई या मोटा कम्बल ओढ़ना। इससे स्वेदन हो जाता है।

4. भूख (Hunger) - भूख लगने पर भोजन न करने से स्वेदन होता है।

5. बहुपान (Excessive drinking) -

बहुपानं इति बहुमद्यपानम्॥ (च. पा. च. सू. 14/64 पर)

अधिक मात्रा में पेय पदार्थ जैसे सूप या मदिरा पान करने से स्वेदन होता है।

6. भय (Fear) - भय से पैरासिम्पैथेटिकनर्व की उत्तेजना से स्वेद ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं जिससे पसीना आता है।

7. क्रोध (Anger) - क्रोध से पित्त प्रकोप होता है तथा स्वेद का निर्गम होकर स्वेदन होता है।

8. उपनाह (Poultice) - अग्नि के प्रत्यक्ष सम्पर्क के बिना औषध (जौ, कुलथी, यव, रास्ना, देवदारु, वच, सौंफ, कूठ आदि वातनाशक द्रव्यों) के शरीर पर लेप करने से स्वेदन होता है।

9. आहव (Games with high physical activities/war) - अर्थात् युद्ध या कुश्ती लड़ने से स्वेदन होता है।

10. आतप (Sunlight) - सूर्य किरणों से स्वेदन करना आतप स्वेद है।

7. स्वेदन के विभिन्न प्रकार (Detailed knowledge with their utility of the following svedana procedures):

7 (a) रूक्ष एवं स्निग्ध स्वेदन (Ruksha and snigdha sveda)

रूक्षस्निग्ध स्वेदन योग्य

कफार्तो रूक्षणं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले। (अ.ह.सू. 17/11)

कफज रोगी को रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन करावें तथा रूक्ष एवं कफवातज रोगियों में रूक्ष एवं स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करावें

7(b) पत्रपिण्ड स्वेद (Patra Pinda Sveda)-

वह प्रक्रिया जिसमें स्वेदन द्रव्यों को वस्त्र की पोटली बनाकर उन्हें सुखोष्ण कर स्वेदन किया जाता है पिण्ड स्वेद कहलाता है। यह संकर स्वेद का एक प्रकार है।

केरल प्रान्त में पिण्ड को कीझी (Keezhee) कहते हैं।

कीझी = पोटली/ पिण्ड

पत्रपिण्ड में पत्र, पुष्प, फल, आदि को कल्क बनाकर पोटली में बांधकर गर्म तैल में डुबाकर शरीर को थपथपाते हुए स्वेदन करते हैं।

☞ इसमें वातनाशक पत्र जैसे एरण्ड पत्र, निर्गुण्डी पत्र, धत्तूरा पत्र, शिग्रु पत्र, अर्क पत्र, श्योनाक पत्र आदि को कुचलकर कल्क रूप में लेकर तैल में पकाकर एवं अन्य प्रक्षेप डालकर पोटली बनाकर प्रयोग किया जाता है।

पत्रपिण्ड स्वेद विधि- यह तीन चरणों में पूर्ण होती है-

1. पूर्वकर्म   2. प्रधान कर्म   3. पश्चात् कर्म

पत्रपिण्ड स्वेदन के पूर्वकर्म (Poorva Karma of Patra Pinda Sweda)- इसमें निम्नकर्म होते हैं-

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)- पत्र पिण्ड स्वेदन करने से पूर्व यह परीक्षण किया जाता है कि रोगी पत्रपिण्ड योग्य है या अयोग्य। योग्य होने पर रोगी की बल, प्रकृति, बल, सात्म्य, सत्व आदि की परीक्षा की जाती है।

पत्र पिण्ड योग्य रोग व रोगी (Suitable for Patra Pinda Sweda)-

1. सर्वांगवात	2. एकांगवात	3. गृध्रसी
4. पक्षाघात	5. सुप्तवात्	6. शरीरगौरव
7. स्तम्भता	8. गात्रस्तम्भता	9. मांसपेशीगत जड़ता आदि अन्य वातज रोग।

पत्रपिण्ड अयोग्य रोग व रोगी (Not suitable for Patra Pinda Sweda)- ज्वर, उच्चरक्तचाप, मूर्च्छा, भ्रम।

(I) पोटली निर्माण- वातनाशक पत्र जैसे निर्गुण्डी, धत्तूरा, शिग्रु, एरण्ड, अर्कपत्र आदि एकत्रित करते हैं फिर उन्हें कुचलकर लगभग 150-200 ml. तैल में पाक (फ्राई) करते हैं तथा आवश्यक वातनाशक औषध चूर्ण, लहसुन, दाना मेथी, नारियल, अजवाइन, हल्दी, सैंधा नमक, नींबू आदि भी मिला देते हैं। फिर 200-250 ग्राम तक तली हुई पत्तियों को 18 इंच चौकर सूती कपड़े में बांधकर 4 पोटली बना लेते हैं पोटली का धागा इस प्रकार बांधा जाता है जिससे स्वेदन किया करते समय वह आसानी से पकड़ी जा सके एवं औषध द्रव्य भी बाहर न आए। इस प्रकार पोटली का निर्माण करते हैं।

विभिन्न वातहर पत्रों को कुचलते हुए

तैल व अन्य प्रक्षेप लेते हुए   पत्ते पाक करते हुए

पत्ते सहित सम्पूर्ण मिश्रण को पाक करते हुए

मिश्रण की पोट्टली बनाते हुए

तैयार पोट्टली

(ii) तापक्रमादि मापन (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, वजन, नाड़ी गति, श्वसन गति को सूचीबद्ध करते हैं। चिकित्सा में होने वाले उपद्रव आदि की पूर्व में जानकारी देकर रोगी की लिखित में सहमति (Consent form) ले लेते हैं।

- रोगी को स्वेद से एक से दो घण्टे पूर्व लघु भोजन पेया, यवागु दिया जाता है। रोगी को स्वेदन के समय कोपीन/अल्प वस्त्र पहनाया जाता है जिससे स्वेदन कर्म आसानी से हो पाता है।

(iii) आवश्यक उपकरण एवं परिचारक– अभ्यंग टेबल, अभ्यंग हेतु तैल, तैल गरम करने हेतु बर्तन, हीटर, 18-18 इंच के चौकोर कपड़े के टुकड़े, तौलिया, दो-तीन भगोनी, हस्तमदस्ता आदि।

परिचारक-पत्रपिण्ड स्वेद हेतु 2 से 3 परिचारक की आवश्यकता होती है।

पत्रपिण्ड स्वेदन का प्रधान कर्म (Pradhan karma of Patra Pinda) –

क्रियाविधि– सर्वप्रथम रोगी को कोपिन पहनाकर अभ्यंग टेबल (द्रोणी) पर लिटाया जाता है। फिर वातनाशक सुखोष्ण तैल से सम्पूर्ण शरीर पर अभ्यंग किया जाता है। तत्पश्चात्-हीटर पर या होट प्लेट पर एक बर्तन में 200 एम. एल. तैल गर्म किया जाता है इस गर्म तैल में, तैयार की गयी 4 पोटली को डुबा डुबाकर थपथपाते (Stroking) हुए स्वेदन करते हैं। स्वेदन करते समय इस बात का ध्यान रखें कि पोटली रोगी के सहने योग्य गर्म हो अन्यथा रोगी की त्वचा का जलने का डर रहता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में पोटली का तापमान समान रहना चाहिए अर्थात् वह न शीत हो, न ही उष्ण।

प्रत्येक अवयव पर 5 से 10 मिनट तक अभ्यंग करते हैं। अभ्यंग में बताए गए सात आसनों में पत्रपिण्ड स्वेद अभ्यंग करना चाहिए। इस प्रकार पत्रपिण्ड स्वेद 45 से 60 मिनट तक करना चाहिए।

पोट्टली हेतु तैल लेते हुए

पोट्टली को तैल में पुनः गर्म करते हुए

पत्र पिण्ड करते हुए

पत्र पिण्ड करते हुए

पत्र पिण्ड करते हुए

सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण– पत्र पिण्ड स्वेद पश्चात उत्पन्न लक्षणों को ध्यानपूर्वक निरीक्षण करते हैं हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुनः स्वेद करते हैं तथा अतियोग लक्षण उत्पन्न होने पर पत्रपिण्ड स्वेद क्रिया को रोक देते हैं तथा दाध चिकित्सा करते हैं सम्यक् लक्षण उत्पन्न होने पर आगे की प्रक्रिया करते हैं।

पत्रपिण्ड स्वेद का पश्चात् कर्म (Paschat karma of Pinda Sweda)–

इसमें निम्न कर्म आते हैं–

(i) आहार विहार सम्बन्धी निर्देश– पत्र पिण्ड पश्चात् रोगी को विश्राम कराते हैं तथा रोगी के शरीर को पतले कपड़े द्वारा ढक देते हैं ताकि बाहर के वातावरण से सीधा सम्पर्क न हो पाए। यदि स्नान करना हो तो 1½ या 2 घंटे पश्चात् औषध क्वाथ या सुखोष्ण जल द्वारा करवाते हैं। रोगी को आहार में लघु आहार, पेया, यवागु देते हैं।

रोगी को अनातीक्ष्ण वातावरण में रखा जाता है। तेज आवाज में बोलना, अधिक देर तक बैठना, अधिक देर तक खड़े रहना, शोक करना, क्रोध करना, अति चलना, व्यवाय, व्यायाम, रात्रि जागरण, दिवास्वप्न आदि वर्जित निर्देशों को पालन हेतु निर्देश देते हैं।

7. (c) जम्बीर पिंड स्वेद (Jambeer pinda sweda)

यह उष्मस्वेद है।

यह स्वेद न अति स्निग्ध होता है और न अति रूक्ष होता है। जम्बीर पिंड स्वेद बनाने के लिए पक्व जम्बीर (निम्बुक का भेद) लेकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके तैल में मंद आँच पर पाक करते हैं तत्पश्चात् उसमें सैंधव लवण, यवानी का कल्क डाले, इसके बाद मेथिका, शताह्व, बिल्व, हरिद्रा, कुलत्थ आदि का चूर्ण डालकर अच्छे से पाक करते हैं। तथा द्रव्य का अतिपाक (जलाना) नहीं चाहिये। फिर इन सारे द्रव्यों की पोट्टली बनानी चाहिए, इस पोट्टली को फिर से तैल या क्वाथ आदि द्रव में गर्म करके अनुलोम गति से स्वेदन करते हैं।

अवधि– प्रतिदिन 45 से 60 मिनट तक तथा 7 से 21 दिन तक कराया जा सकता है।

7. (d) बालुका स्वेद (Baluka sweda) –

बालुका स्वेद पिंड स्वेद है, जो तापस्वेद का प्रकार है–

यह रूक्षण प्रक्रिया है इसमें कंकर रहित स्वच्छ बालुका का प्रयोग स्वेदन हेतु करते हैं।

इष्टिका स्वेद, तुष स्वेद, लवण स्वेद– इसमें स्वेदन हेतु क्रमशः इष्टिका (ईंट का चूरा), तुष, लवण आदि का प्रयोग करते हैं। ये सभी स्वेद भी बालुका स्वेद की तरह रूक्ष स्वेद ही है, इन स्वेद की प्रक्रिया और गुणकर्म बालुका स्वेद जैसे ही है।

विधि– स्वच्छ, कंटकादिरहित बालुका/ इष्टिका चूर्ण/तुष/लवण आवश्यक मात्रा में लेकर उसके सूती (Cotton) कपड़े की 2-4 पोट्टली बनाएँ। हीटर (Heater) पर लोहे की कढ़ाई में पोट्टली मंद आँच पर ज्यादा कालावधी तक गर्म करें।

- इन पोट्टलीयों से सर्व शरीर पर या एकाङ्ग स्वेदन करें।
- सम्पूर्ण स्वेदन होने तक पोट्टली का तापमान एकसमान रहे इस तरह उसे उष्णता देनी चाहिए।

उपयोग– बालुका आदि स्वेद आमवात, ऊरुस्तंभ, मेदोरोग इन व्याधियों में लाभ देने वाला अत्यंत सरल, अल्प व्यय वाला और उत्कृष्ट उपक्रम है। आम से उत्पन्न स्रोतोरोध दूर करने के लिए रूक्ष स्वेद अत्यंत लाभदायक है।

अवधि– यह स्वेद 45-60 मिनिट तक 7/14/21 दिनों तक करना चाहिए।

- प्रतिदिन 1-2 बार या रोगी के अवस्थानुसार अधिक बार भी किया जा सकता है।

7. (e) चूर्ण पिंड स्वेद (पोड़ड़ी किड़ी) (Churana pinda sweda)

यह एक प्रकार का रूक्ष स्वेद है।

तैल की उपर्युक्तता आतुर की अवस्था से निश्चित की जाती है। इसमें मेथिका, शतपुष्पा, कुलत्थ, देवदारु, श्वेत एरंड, हरिद्रा, रास्ना आदि वातहर द्रव्यों के चूर्ण को धीमी आँच पर पाक (fry) करके उसकी पोट्टली बनाते है। इस पोट्टली को उष्ण तैल या क्वाथ द्रव्यों में मज्जन करके स्वेदन करते है।

उपयोग–सामकफानुबन्ध वात रोग, संधिवात, गृध्रसी तथा अन्य वातजन्य रोगों में।

7. (f) कुक्कुटाण्ड स्वेद (Kukuttanda sweda) –

इसमें स्वेदन हेतु कुक्कुट (मुर्गे) के अण्डे के साथ कोल कुलत्थादि चूर्ण, मेथी, हरिद्रा आदि अन्य प्रक्षेप द्रव्य, नींबू तथा निम्ब तैल का प्रयोग होता है यह वात-कफज रोग में लाभदायक है।

7. (g) षष्टिक शाली पिण्ड स्वेद (Shastik shali Pinda Sweda)

परिचय (Introduction) :– साठी चावल को औषध संस्कारित दुग्ध में पकाकर पिण्ड रूप में स्वेद करना षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद कहते है।

षष्टिक शाली को केरल (मलयालम भाषा) में नवरा कीझी कहते है–

नवरा = नया चावल (60 दिन में पककर तैयार)

कीझी = पोट्टली या पिण्ड

इसकी सामान्य प्रक्रिया पत्र पिण्ड समान है।

पूर्व कर्म (Poorva karma)

> संशोधितानां कुडवद्वयं–प्राक् समाधितं षष्टिक तंडुलानाम्।
> बला कषाये पयसा युतत्वान् विपाचयेत् षड्गुणिते यथावत्॥
> पिंडान् विदध्याद् अमुनाष्टचेल खंडेषु नुलेषु सुमुत्र बद्धान्।
> विपच्यमाने क्वथिते बलायाः क्षिपेदधीनाना पयसा समेते।
> अभीक्ष्ण विक्षेपकवोष्णिस्तैर्विभज्य मृदनात् यथोपदेशम्।
> शुभे मुहुर्तेकृतपुज्यपूजं यथास्वतैलाक्त तनुं मनुष्यम्॥
> यामार्द्धकालेन समाप्तिमेति यथा कषायः सपक्व एषः।
> तथा पचेत तत्र मृदुः क्षिपेच्च पिंडान् सुखोष्णीकरणाय तेषां।
> अथापनीया खिल लेपमंगाद्यथास्वतैलार्जित सर्वगात्रः।
> स्नातः सुखोष्णेन जलेन पथ्यभोजी भेजत्, स्नेहविधानचर्याम्॥ (धाराकल्प)

षष्टिकशाली पोट्टली निर्माण विधि– सर्वप्रथम 500g बला मूल लेकर उसे अच्छी तरह पानी से धोकर स्वच्छ कर बारीक-बारीक टुकड़ों में विभक्त कर लेते है। फिर इसे 16 गुने जल में डालकर उबाल कर ¼ शेष रख क्वाथ बना लेते है फिर इस क्वाथ के दो बराबर भाग कर लेते है एक भाग में बलामूल के समान मात्रा में दूध साठी [(षष्टिक)=60 दिनों में पका हुआ।] चावल डालकर श्लक्ष्ण होने तक पकाते हैं। फिर चार से आठ 18x18 इंच के सूती वस्त्र खण्ड लेकर उन पर दूध मिश्रित पका हुआ भात, समान मात्रा में रखकर पोट्टलीयाँ बांधकर तैयार करते हैं। पोट्टली इस प्रकार बंधी होनी चाहिए कि उनका ऊपर का भाग पर्याप्त चौड़ा और हाथ में पकड़ने योग्य हो। इन्हें स्वेदार्थ उपयोग के लिए रख देते हैं। फिर शेष आधे क्वाथ में बराबर मात्रा में दूध मिलाकर सुखोष्ण गरम कर लेते हैं तथा इस मिश्रण में तैयार पोट्टलियों को रख देते हैं।

साठी चावल पकाते हुए

बलामूल क्वाथ बनाते हुए

साठी चावल पकाते हुए
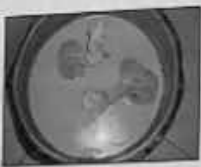
पोट्टली मिश्रण में डली हुयी

प्रधान कर्म (Pradhana karma) :–**षष्टिकशाली पिण्डस्वेद विधि**– सर्वप्रथम आतुर को कोपीन पहनाकर अभ्यंग टेबल पर लिटा दिया जाता है। फिर सम्पूर्ण शरीर का सुखोष्ण वातनाशक तैल द्वारा मृदु अभ्यंग किया जाता है। आतुर के दोनों ओर दो-दो परिचारक खड़े हो जाते हैं तथा एक परिचारक हीटर पर रखे क्वाथ मिश्रण के पास खड़ा हो जाता है। फिर परिचारक मिश्रण से उष्ण पोट्टली लेकर अपने हाथ पर रखकर ऊष्णता की परीक्षा कर आतुर के भागों पर थपथपाते (Stroking) या घुमा-घुमा कर स्वेदन करें। मन्या से नीचे कटि तक अनुलोम गति से स्वेदन करे तथा दूसरा परिचारक कटि से नीचे अनुलोम गति से स्वेदन करें। इस प्रकार दक्षिण हाथ से गति को आगे बढ़ाए तथा बाएं हाथ से अवयव को योग्य अवस्था में रखें। इसी तरह संधियों पर वर्तुलाकार तथा दीर्घ अवयवों पर दीर्घाकार स्वेद करें। जब पोट्टलियां ठण्डी होने लगे तब पाँचवा परिचारक शेष चार पोट्टलियों को द्रव में से निकाल कर उन्हें दे दें तथा ठण्डी पोट्टलियाँ पुनः द्रवमिश्रण में गरम हेतु रख दें।

पोट्टली पूर्व अभ्यंग करते हुए

षष्टिक शालि करते हुए

इस प्रकार पाँच से दस मिनट में बार-बार पोट्टलियाँ बदल-बदल कर सतत गरम पोट्टलियों से स्वेदन करें। स्वेदन करते समय यह ध्यान रखें कि त्वचा पर दाध व्रण न हो और न ही एकदम अनुष्ण अर्थात् एकदम ठण्डी पोट्टलियाँ न हो। एक समान तापमान रखना आवश्यक होता है।

अभ्यंग की जो सात अवस्थाएँ बतायी गयी है उन्हीं अवस्थाओं में 10 से 15 मिनट तक (प्रत्येक अवस्थाओं में) पोट्टली द्वारा स्वेदन करें। इस प्रकार एक से डेढ़ घण्टे तक यह स्वेदन कर्म करें।

स्वेदन की गतियों के समय आतुर के शरीर पर पोट्टलियों का घर्षण होता है और औषध सिद्ध षष्टिकशाली जड़ से स्रवित होकर शरीर पर संस्कार होता है।

पश्चात् कर्म (Paschat karma)– जब हीटर पर रखा हुआ द्रव पूर्ण समाप्त हो जाता है तब पोट्टलियों को खोलकर हाथ द्वारा उस मिश्रण का शरीर पर अभ्यंग/उद्वर्तन प्रकार से मर्दन करते हैं इस प्रकार पाँच से दस मिनट करने के पश्चात् शरीर पर से इस लेप को स्वच्छ कर, सुखोष्ण जल से स्नान करवाया जाता है।

यह चिकित्सा प्रतिदिन या दिनांतर से 7 दिन, 14 दिन, 28 दिन तक करनी चाहिए।

वस्तुतः षष्टिक शालि एवं पत्र पिण्ड स्वेद दोनों ही पिण्ड स्वेद होने के कारण मूल प्रक्रिया, सावधानी, नियम समान है।

कायसेक (Kaya seka)

परिचय– काय अर्थात् शरीर एवं सेक अर्थात् स्वेदन। औषध युक्त क्वाथ, तैल आदि से सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन अर्थात् पसीना लाया जाता है उस विधि को कायसेक कहा जाता है।

इसमें प्लोत द्वारा स्नेह लेकर हाथ से निचोड़कर शरीर पर स्नेह डालते है।

7. (h) नाडी स्वेद (Nadi swedan)

मुख्यतः एकांग स्वेदन करने के लिये नाड़ी स्वेद दिया जाता है।

एक बड़ा प्रेशर कुकर/ऑटोक्लेव में स्वेदन करने योग्य द्रव्यों का मूल, फल, पत्र, पशु और पक्षीयों का मांस आदि (उष्ण स्वभाव वाले मांसो को रोगानुसार निश्चित करे) कांजी, नमक, तैल, मूत्र और दुग्ध आदि द्रव पदार्थ

मिलाकर इसका क्वाथ बनाकर, वाष्प का निर्माण करते हैं। एक नलिका (Spiral Rubber tube) जिसकी लम्बाई 1 व्याम (6 फीट) हो उसे इसका अग्रभाग (Proximal end) जिसका परिणाह 1/4th व्याम (1.5 Feet) हो वह कुम्भ के वाष्प निकालने वाले भाग (Nozzle) पर जोड़ा जाता है, नलिका (Tube) के पार्श्व भाग का परिणाह 1/8th व्याम होता है, इस पार्श्वभाग को पकड़ने के लिये उसका वक्र को 5-7 स्तर पर लपेटा जाता है। जिससे वाष्प देने वाले व्यक्ति को गर्म प्रतीत न हो। नलिका (Tube) की यह विशिष्टपूर्ण रचना वाष्प की तीव्रता (Excessive heat) को कम करने हेतु होती है। वातनाशक स्नेहों से अभ्यंग करने के बाद आतुर का नाड़ी स्वेदन करते हैं।

नाड़ी स्वेद करते समय दग्ध व्रण होने की संभावना होती है, इसलिए जिस प्रदेश का स्वेदन करना हो, उस प्रदेश को वस्त्र से आच्छादित करके स्वेदन करें, इससे दग्धव्रण होने की सम्भावना कम हो जाती है।

अवधि- प्रतिदिन 10-15 मिनिट से लेकर सम्यक् लक्षण आने तक नाड़ी स्वेद किया जाता है।

उपयोग- शूल और संकोच में यह अत्यंत लाभदायक है।

हृदरोग, उच्च रक्त चाप, मधुमेह, शल्य क्रिया उपरान्त जैसे व्याधियों में सर्वांग वाष्प स्वेद का निषेध होता है तब नाड़ी स्वेद ही लाभदायक है।

7. (i) वाष्प स्वेद (Vashpa sweda)

उष्म स्वेद को ही वाष्पस्वेद कहते है।

सर्वांग स्वेदन हेतु वाष्पस्वेदन यंत्र से स्वेद दिया जाता है।

वाष्पस्वेदन यंत्र- यह लकड़ी का टेबल सदृश उपकरण है। 6 फीट लंबा, 2.5 फीट चौड़ा और 2 फीट ऊँचा होता है। इसकी चारों बाजुएँ लकड़ी से बंद होती है, जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। इसकी एक बाजू पर कपाटों की तरह खुलने वाले दरवाजे होते हैं। टेबल के ऊपरी सतह पर 1 इंच परिणाह की छिद्रोवाली जाली होती है। इस जाली पर रूग्ण का सिर टेबल से बाहर रहे इस तरह से लिटाया जाता है। सिर रखने के लिये टेबल के एक बाजू पर 9 इंच परिणाह का शिर फलक होता है।

इस टेबल को ऊपर से ढकने के लिए एक फलक होता है। टेबल के नीचे दशमूल, रास्ना, एरंड, निर्गुण्डी आदि वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ की वाष्प इन छिद्रों द्वारा आतुर के गात्र पर स्वेदन करते है। उपरोक्त वाष्प स्वेदन यंत्र लिटाने वाले प्रकार का है (Laying/vertical steam chamber) इसके अतिरिक्त बिठाकर (Horizontal/Sitting steam chamber) भी स्वेदन यंत्र का प्रयोग होता है।

7. (j) क्षीर वाष्प स्वेद (Ksheer vashpa sweda) – इसमें उपरोक्त विधि समान होती है अन्तर केवल वाष्प द्रव्य का है। क्षीर वाष्प हेतु केवल क्षीर या औषध संस्कारित क्षीर का वाष्प के रूप में प्रयोग करते है इसका प्रयोग विशेष रूप से अर्दित एवं मन्यास्तम्भ हेतु किया जाता है।

7. (k) क्वाथ सेक– यह स्वेदन उपरोक्त विधि समान होता है। अन्तर केवल यह है कि इसमें औषध सिद्ध क्वाथ की वाष्प का स्वेदन में प्रयोग करते है।

7. (l) अवगाह स्वेद (Avagaha Sveda)– (पृष्ठ संख्या 96 पर वर्णित है।)

7. (m) धान्याम्ल धारा व क्षीर धारा (Dhanyamla Dhara and ksheer Dhara)

धान्याम्ल/कांजी धारा

धान्य का किण्वीकरण करके प्राप्त द्रव द्वारा जो धारा की जाती है, वह धान्याम्ल धारा है। यह एक रूक्षण चिकित्सा है।

धान्याम्ल निर्माण विधि

1 किलो लाल शाली धान और कुल्माष (कुल्माष) 1 किलो लेकर इसमें 8 गुना जल लेकर किसी बड़े पात्र में पकाते हैं। जब चावल और उड़द सिद्ध हो जाये तो एक मिट्टी के बड़े घड़े में रखकर संधान करते हैं।

10 दिनों के बाद, परीक्षोपरान्त घड़ा का मुख खोलकर वस्त्रपूत कर किसी पात्र में संग्रहित करते है। यही कांजी कहलाती है।

विधि–रूग्ण को द्रोणी में प्रवेश करने से पहले उसके शिर और शरीर पर तैल से अभ्यंग करते हैं। वर्ती या कपड़े की पट्टी से शिर, भ्रुवास्थि और कर्ण (Eyebrow and ear) के ऊपर बांध देते हैं। आतुर को बैठाकर धान्याम्ल को कोष्ण कर 4 कर्मचारी (मसाजर) द्वारा धान्याम्ल की धारा सम्पूर्ण शरीर पर परिषेक की भाँति सुराईनुमा कुम्भी अथवा नलिका से कायसेक/पिडिचिल की तरह स्वेदन करते हैं।

उपयोग– यह धारा वातरक्त, आमवात, स्थौल्य, पक्षाघात में लाभदायक है। विशेषकर ऐसे रोग जिसमें वात का कफानुबन्ध होता है।

क्षीरधारा (Ksheer dhara)

धारा कर्म जब दशमूल क्वाथ, चंदन, उशीर, हाऊबेर, यष्टी मधु, मांस आदि द्रव्यों से सिद्ध क्षीर द्वारा किया जाये तो वह क्षीर धारा कहलाती है। क्षीरधारा की सम्पूर्ण प्रक्रिया धाराकर्म समान ही है।

7. (n) पिंचिचिल/पिडिचिल (Pizichill)

परिचय– कायसेक या पिडिचिल यह वह प्रक्रिया है जिसमें सतत सुखोष्ण तैलधारा के द्वारा शरीर का स्वेदन किया जाता है।

रोगानुसार प्रयुक्त स्नेह– सामान्यतः –

कफ की प्रधानता में सहचरादि तैल।

पित्त की प्रधानता में क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल।

वात की प्रधानता में धान्वन्तर तैल, महानारायण तैल इत्यादि।

काल मर्यादा– वातव्याधि में 5 नाडिका अर्थात् लगभग 2 घण्टे तक। वात और कफज रोगों में 1 घण्टे तक।

सामान्यतया, स्वेद निकलना यही पर्याप्त समय का निर्देशक है। 1 से 1½ घण्टा काल पर्याप्त है। सात दिन, चौदह दिन, इक्कीस दिन या अट्ठाइस दिन तक पिंचिचल कर्म करना चाहिए। स्वस्थ हेतु प्रतिदिन या एक दिन छोड़कर सेक करना चाहिए। यदि मध्यम सत्व एवं शरीर हो तो 2 या 3 दिन में एक बार तथा अवर सत्व (मन) और शरीर बल में 4 से 6 दिन में एक बार करना चाहिए।

पिंचिचिल– यह निम्न तीन चरणों में पूर्ण होती है।

1. पूर्व कर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात कर्म

पूर्वकर्म (Poorva karma of Pizichill)– इसमें निम्न कर्म आते हैं–

(i) आतुर सिद्धता– सर्वप्रथम पिंचिचिल के योग्य व अयोग्य का निर्धारण किया जाता है। योग्य होने की स्थिति में रोगी का वय, बल, सात्म्य, सत्व, प्रकृति आदि की परीक्षा की जाती है।

(ii) औषध योग निर्धारण– रोग व रोगी की अवस्थानुसार औषध योग का निर्धारण किया जाता है। जैसे कफ प्रधान में सहचरादि, पित्त प्रधान–क्षीरबला, चंदनबला, वातप्रधान–बला, महानारायण, धान्वतर तैल आदि।

(iii) तापक्रमादि मापन (Vital recording) एवं चिकित्सा सहमति पत्र (Consent form) – रोगी का तापक्रम वजन, रक्त चाप, नाड़ी गति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध कर लेते है। चिकित्सा में होने वाले उपद्रव सहित सम्पूर्ण क्रिया आदि की जानकारी देकर रोगी की लिखित में सहमति लेकर चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र सूचीबद्ध करते हैं।

(iv) आवश्यक उपकरण व परिचारक– छोटी भगोनी, 18x18 ईंच के सूती (कॉटन) के कपडे के खण्ड, वस्त्र, औषध योग, नेत्रबंधन पट्टिका, तैल द्रोणी, भगोना, जल पात्र (तैल गर्म करने हेतु) आदि।

परिचारक– पिंचिचिल के लिए 5 परिचारकों की आवश्यकता होती है।

प्रधान कर्म (Pardhana karma of Pizichill)– इसके अन्तर्गत पिंचिचिल कर्म विधि आती है।

विधि (Procedure)– पिंचिचिल योग्य आतुर को कौपीन पहनाकर तैलद्रोणी में बैठाते हैं। तैल द्रोणी स्नेहधारा योग्य, एक ऐसा प्रकोष्ठ होता है जिसमें पतित तैल को पुनः एकत्रित कर उपयोग में ले सकें। सर्वप्रथम सम्पूर्ण शरीर पर औषध युक्त तैल से अभ्यंग किया जाता है फिर नेत्र बंधन कर दिया जाता है जिससे आंखों में तैल न जाये।

पिंचिचिल व अन्य स्वेदन प्रक्रिया के दौरान शिर पर विशिष्ट प्रक्रिया 'तलम्' का धारण करवाया जाता है जो निम्न प्रकार है-

पिंचिचिल करते हुए

तलम् धारण प्रक्रियाः – तलम् को तलेपोडिच्चिल भी कहा जाता है यह स्वेदन प्रक्रियाओं के दौरान सिर पर स्वेदन प्रभाव न हो, उसे रोकने के लिए इसमें आमलकी या बला का प्रयोग करते हैं।

विधि– आमलकी (100 ग्राम) और तक्र (200 ml) लेकर पाक कर अर्द्ध अवशिष्ट (1/2) लगभग 100 ml कर लेते है। फिर अभ्यंग पश्चात् लक्षण शीत इस आमलकी कल्क को चक्राकार बनाकर सिर पर ब्रह्मरंध्र स्थान पर रखते है तथा उसमें आलवाल बना कर कोई शीत तैल जैसे चंदन बलादि तैल भरकर वातहर पत्र (निर्गुण्डी, एरण्ड पत्र) आलवाल पर रख स्वास्तिक बंधन ऐसा बांधते है कि उसकी गांठ कान के पास आए।

चक्रिका में तैल भरते हुए

पत्र द्वारा ढका तलम्

पिंचिचिल हेतु – आतुर के दांए बांए दोनों ओर चार परिचारक इस प्रकार खड़े रहे कि उनमें से उभय बाजू के दो परिचारक अंस से स्फिग् तक और दूसरे दो परिचारक स्फिग् से प्रपाद तक धारा कर सके।

धारा करने हेतु 18X18 ईंच के वस्त्र खण्डो को सुखोष्ण तैल पात्र में डुबोकर, किंचित निचोड़कर दाहिने हाथ से पकड़कर मुट्ठी में इस प्रकार दबायें कि वस्त्र से तैल अंगूठे से धारा के रूप में आतुर के शरीर पर गिरे। इस गिरे हुए तैल का परिचारक अपने बाएं हाथ से मृदु अभ्यंग करें। धारा का वेग न तो बहुत शीघ्र हो और न ही बहुत मंद हो। शरीर पर धारा 12 अंगुल की ऊँचाई (9 ईंच) से गिराई जाती है।

धारा से द्रोणी में जो तैल गिरता है वह द्रोणी के ढलाव के कारण पादांत भाग में जाकर वहाँ के छिद्र से नीचे गिर जाता है तथा नीचे रखे हुए पात्र में एकत्रित हो जाता है। फिर इस एकत्रित हुए तैल को पाँचवा परिचारक पुनः सुखोष्ण गरम कर परिचारकों को धारा के लिए देता है। इस प्रकार पिंचिचल कर्म 1 से 1½ घण्टे तक किया जाता है।

पिंचिचल सावधानियाँ एवं व्यापद (Precaution & complications)– अधिक गरम, अधिक या कम ऊँचाई से धारा गिराना इत्यादि करने से शरीर दाह, विसर्प, थकावट, स्वरभेद, संधि में भेदनवत् पीड़ा, छर्दि, रक्तस्राव आदि उत्पन्न हो जाते है इस स्थिति में चिकित्सा बंद करके इन उपद्रवों की चिकित्सा की जाती है।

पश्चात् कर्म (Paschat karma of Pizichill)– इसमें निम्न कर्म आते है-

आहारादि व्यवस्था– प्रधान कर्म पश्चात् रोगी के शरीर पर मृदु अभ्यंग करते है तत्पश्चात् गर्म पानी से स्पंज या औषध क्वाथ या उष्ण जल से स्नान किया जाता है जिससे शरीर पर लगा हुआ तैल साफ हो जाता है। आहार

में लघु आहार पेया, यवागु का सेवन करवाया जाता है। स्नान के बाद गंधर्व हस्तादि क्वाथ या शुण्ठी क्वाथ देते है जिससे अनुलोमन होता है। इसका प्रयोग प्रातः सायं 25 ml या 50 ml की मात्रा में करते है।

परिहार्य विषय– रोगी के सम्पूर्ण शरीर को एक पतले चादर से ओढ़ा कर ढंका जाता है तथा उसे निवात स्थान में निवास करवाया जाता है।

उच्च स्वर में बोलना, अति भ्रमण, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण, अधिक देर तक खड़े रहना, एक ही आसन पर बैठे रहना, अति श्रम, तेज धूप, हवा का सेवन आदि परिहार्य विषयों का पालन, चिकित्सा के दुगने काल तक करना चाहिए।

तापक्रमादि मापन (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन गति इनको ज्ञात कर पूर्व में लिए गए विवरण से तुलना कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण किया जाता है।

7. (o) लेप (Lepa)

पर्याय –आलेप, लिप्त, लेपन, लिपन, लेप आदि।

सुश्रुतानुसार लेप 3 प्रकार का है–

(1) प्रलेप (2) प्रदेह (3) आलेप

प्रलेप शीत, तनु तथा शोषी या अविशोषी प्रकार का होता है।

प्रदेह वह शीत और उष्ण दोनों प्रकार का होता है, वात और कफ के लिए उष्ण प्रदेह और पित्त के लिए शीत प्रदेह किया जाता है, प्रदेह वह वात कफ का शमन करने वाला, संधान कर, शोधन तथा रोपण करने वाला होता है।

प्रदेह का जब व्रण पर उपयोग होता है, तब उसे कल्क कहते है। इस कल्क से व्रण स्राव कम होता है, इसलिए इसे निरुद्धलेपन भी कहते हैं, इससे व्रण के दोषों का शमन होकर व्रण शुद्ध होता है।

शार्ङ्गधर के अनुसार लेप के तीन भेद हैं।

(1) दोषघ्न– 1/4th अंगुल (Thick) – शोथादी व्याधी में दोषनाश के लिए।

(2) विषघ्न– 1/3rd अंगुल (Thick) – भल्लातक आदि विष से निर्मित शोथ, या कीटदंश के लिए उपयुक्त

(3) वर्ण्य– 1/2 अंगुल (Thick) – मुख व्यंगादी वैवर्ण्य दूर करने के लिए उपयुक्त।

लेपविधी करते समय विशेष दक्षता होनी चाहिए–

लेप प्रतिलोम पद्धति से करें, (शरीर पर लोम की दिशा से विरुद्ध दिशा में), अनुलेप ना लगाए, क्योंकि वह केवल लोम पर ही रहता है, प्रतिलोम लेप रोमकूप तक जाकर, स्वेदवाहिनीयों में जाकर अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

लेप आर्द्र होता है, तभी गुणकारी होता है। इसलिये लेप को पूरा सुखने नहीं देना चाहिए। इससे वर्णनाश की सम्भावना हो सकती है।

लेप हेतु– दोषानुसार स्नेह प्रमाण–

दोष	स्नेहप्रमाण
वात दोष	1/4th स्नेह
पित्त दोष	1/6 th स्नेह
कफ दोष	1/8 th स्नेह

सावधानियाँ

(a) रात को लेप न करें।

(b) एक बार प्रयोग किया हुआ लेपन द्रव्य बाद में फिर से प्रयोग नहीं करना चाहिये।

प्रलेप व आलेप में अन्तर

	प्रलेप	आलेप
1.	शीतल	उष्ण या शीत
2.	तनु	बहल या अबहल
3.	शोषी या अविशोषी	अविशोषी

7. (p) अन्नलेप (Anna lepa)

परिचय (Introduction) – अन्नलेप यह प्रदेह या उपनाह के प्रकार का स्वेद होता है। यह षष्टिकशाली पिण्डस्वेद के समान ही होता है अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें पोट्टली बनाने के स्थान पर षष्टिकशाली का प्रत्यक्ष शरीर पर लेपन किया जाता है।

प्रयुक्त द्रव्य – चावल, गेहूँ, मूंग, उड़द, अलसी आदि अन्न को दूध, दही, औषध क्वाथ आदि के साथ पकाकर या मिश्रण कर शरीर पर लेप करते हैं जिन औषधियों का षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद में प्रयोग करते है उन्हीं का अन्न लेप में भी कर सकते है जैसे- बला मूल, जल, षष्टिकशाली, गाय का दुग्ध।

निर्माण विधि (Preparation method)– सर्वप्रथम बला मूल लेकर उसे पानी द्वारा स्वच्छ करते है फिर उसके छोटे-छोटे टुकडे करते हैं। बलामूल से 10 गुना जल लेकर क्वाथ बनाते हैं। इसमें जल को तब तक उबालते हैं जब तक कि जल चतुर्थांश न रह जाएँ। तत्पश्चात् इस क्वाथ को मोटे कपडे द्वारा छान लिया जाता है इस क्वाथ में बराबर मात्रा में गाय का दुग्ध तथा बलामूल समान मात्रा में षष्टिकशाली डालकर पकाते है। अच्छी तरह पकने पर उक्त मिश्रण को पीसकर श्लक्ष्ण बनाते हैं।

प्रयोग विधि (Procedure of Anna lepa)– सर्वप्रथम रोगी को अभ्यंग टेबल पर लिटा दिया जाता है। फिर रोगी के शरीर पर वातनाशक सुखोष्ण तैल से अभ्यंग करते हैं। फिर रोगी के दोनों ओर दो परिचारक बाजू में खड़े रहकर श्लक्ष्ण व गरम चावल के मिश्रण को थोड़ा-थोड़ा हाथ में लेकर आतुर के शरीर पर लगाकर गरम-गरम

अवस्था में ही उसे उद्वर्तन के समान रगड़ते रहते हैं। रोगी को किसी भी प्रकार की पीड़ा व दाह न हो इस बात का ध्यान रखते हैं तथा सुखपूर्वक लेपन करते हैं। अंत में नीचे ही इस तरह लेपन किया जाता है प्रत्येक मांसपेशी हाथ, पांव, पृष्ठ, कटि प्रदेश पर भलीभांति सुखोष्ण मिश्रण का लेपन हो जाए।

जब यह मिश्रण पूरा हो जाए तब शरीर पर से लेपन के अवशिष्ट भाग को स्वच्छ कर पुनः सुखोष्ण तैल से अभ्यंग करते हैं तत्पश्चात् गरम पानी से स्नान करवाया जाता है। लेपन अवशिष्ट भाग को हटाने के लिए केरल में नारियल पत्र का प्रयोग करते हैं।

काल–यह लेपन 7 दिन या 14 दिन तक किया जाता है।

तथा प्रतिदिन लेपन लगभग 1 से 1½ घण्टे तक किया जाता है।

गुण व उपयोग (Properties and indication)– यह षष्टिकशाली पिण्ड समान गुणकारी है।

शोष, कार्श्य, शूल में लाभप्रद है वात और रक्त से दुष्ट विकारों में, आमवात के कुछ प्रकारों में जहाँ दाह की प्रधानता होती है इन रोगों में यह उपयोगी होता है।

7. (q) शिरोलेप (Sirolepa)

परिचय (Introduction) :– किसी औषधि का शरीर के अवयव पर लेपन करना लेप कहलाता है जब यह प्रक्रिया सिर पर की जाती है तो उसे शिरोलेप कहते है यह स्नेहयुक्त या स्नेहहीन औषध द्रव्य कल्कों के रूप में सिर पर प्रयुक्त होता है।

उपयोग (Indication) – आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार

(1) केशवर्धनार्थ (2) केश दृढ़ीकरणार्थ (3) पालित्य

(4) अरुंषिका (5) रोमोत्पादनार्थ लेप है।

प्रयुक्त द्रव्य :– यह रोग व रोगी की अवस्थानुसार तथा दोषानुसार प्रयोग होता है जैसे– जपापुष्प, आमलकी, रीठा, शिकाकाई, मेंहदी, भृंगराज आदि।

शिरोलेप निर्माण विधि (Preparation of Sirolepa) :–

औषध द्रव्य का चूर्ण, स्वरस, या कल्क को दुग्ध, तक्र, दही, गोमूत्र, इक्षुरस, घृतकुमारी, या घृत/तेल आदि के साथ मिश्रित कर लेप तैयार करते हैं।

शिरोलेप क्रिया विधि (Procedure of sirolepa) :–

इसकी प्रयोग विधि तलम् के समान है इसमें आतुर को सुखासन में बैठाकर सिर पर हल्का अभ्यंग करते हैं तथा तैयार लेप की 1/2 से 1/3 इंच की मोटी परत सिर पर 1 से 1½ घंटे तक धारण करवाते हैं शिरोलेप धारण के पश्चात् रोगानुसार कमल या पिप्पल पत्र से सिर ढक देते है या बंधन कर देते है। इसके बाद सुखोष्ण जल या औषधि युक्त क्वाथ से शिर का प्रक्षालन कर निवात स्थान में रहने का निर्देश देते हैं। विश्राम पश्चात् पेया, यवागु आदि लघु आहार देते हैं। इसकी अन्य सभी विधि भी तलम् या शिरोबस्ति के पूर्व, पश्चात् में जो निर्देश या पालनीय है वही शिरोलेप की भी है।

8. विभिन्न प्रकार की बाह्य बस्ति (Local Basti as kati basti, janu basti, greeva basti and uro basti)

कटि बस्ति (Kati Basti)

यह दो शब्द से मिलकर बना है जिनका अर्थ है।

कटि– कटि प्रदेश (Lumber part of body)

बस्ति– ''वसु– निवासे वस– आच्छादने वसु'' यहाँ वस शब्द – निवास, आच्छादन करने के अर्थ में है। अर्थात् जिस क्रिया से कटि प्रदेश को माषपिष्ट की सहायता से आच्छादित करके सुखोष्ण तैल का धारण कराया जाता है, वह कटि बस्ति कहलाती है। यह बाह्य स्नेहन और स्निग्ध स्वेद है।

कटि बस्ति

विधि–

- कटि बस्ति के लिए माषपिष्टी लेकर आवश्यक प्रमाण में कोष्ण जल मिलाकर गूंथ ले तत्पश्चात् उसका 60 cm/ लम्बाई 2-3 cm मोटाई, 6-7 cm ऊँचाई की आलवाल बनाते है।
- रुग्ण का अभ्यंग और मृदु स्वेदन करते हैं।

- रुग्ण को पीठ के बल लिटाकर (Prone position) कटिप्रदेश में स्पर्शासहत्व (Tenderness) की परीक्षा कर भाग की वर्तुलाकार (Circular) आलवाल लगाया जाता है।
- इसमें सुखोष्ण तैल डाला जाता है। परन्तु यह तैल आलवाल से बाहर नहीं निकलना चाहिए एवं स्राव (Leak) भी नहीं होना चाहिए।
- तैल का तापमान सम्पूर्ण प्रक्रिया तक एक समान होना चाहिये।
- तैल का तापमान थोड़ा कम होते ही उसे पिचु (Cotton) से तैल को इकट्ठा कर मंद आँच पर गरम करके पुनः कटि बस्ति में प्रयुक्त तैल में मिश्रित कर देते हैं। रुग्ण को स्नेहदग्ध ना हो इस हेतु विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

अवधि– यह प्रक्रिया 45 मिनिट तक करनी चाहिये। तथा 7/14/21 दिनों तक कटि बस्ति करनी चाहिए।

प्रयुक्त तैल– कटि बस्ति के लिए धान्वन्तर तैल, बला, अश्वगंधा तैल, दशमूल तैल आदि वात या वातकफ हर तैल का प्रयोग करते हैं।

उपयोग– कटीशूल, गृध्रसी, Lumber spondyolysis, spondylitis, osteophytes आदि रोगों में।

विभिन्न प्रकार की बाह्य बस्तियाँ –

इसी प्रकार जिस स्थान पर जो बस्ति लगाई जाती है वह उसी स्थान के नाम से जानी जाती है। यथा-

जानु संधि पर – जानु बस्ति
उरः प्रदेश/हृदय प्रदेश – उरो बस्ति/हृदय बस्ति
स्कन्ध प्रदेश – स्कन्ध बस्ति
ग्रीवा प्रदेश – ग्रीवा बस्ति
नाभि प्रदेश – चक्र/नाभि बस्ति
नेत्र प्रदेश – नेत्र बस्ति

इन सभी को लगाने की विधि/सावधानियाँ अर्थात् पूर्व, प्रधान, पश्चात् कर्म कटि बस्ति के समान है परन्तु स्थानगत रोग एवं उपयोग के अनुसार योग्य एवं अयोग्य आतुर निर्धारण तथा चिकित्सा का फलश्रुति भिन्न-भिन्न होते है।

जानु बस्ति – संधिगत वात एवं अन्य जानुगत विकारों में
उरः बस्ति – उरः शूल, पर्शुका भग्न (Fracture of rib)
हृदय बस्ति – हृद् शूल (Angina) हृद् कम्प (Palpitation)
नेत्र बस्ति/नेत्रतर्पण – अक्षि रूक्षता, शुष्कता, तिमिर आदि अन्य नेत्र रोगों में
स्कन्ध बस्ति – स्कन्ध शूल, स्कन्ध स्तब्धता (Frozen shoulder)
ग्रीवा बस्ति – ग्रीवा शूल, मन्यास्तम्भ, विश्वाची, (Cervical Spondolysis)
नाभि बस्ति/चक्रबस्ति – उदर विकार, विबंध, नभि शूल, IBS

जानु बस्ति

हृदय बस्ति

नेत्र बस्ति/नेत्रतर्पण

ग्रीवा बस्ति

9. स्वेदन विधि (General Precaution & method of Svedana)

पूर्वकर्म– इसमें निम्न कर्म किए जाते है–

(i) आतुर परीक्षण– इसमें यह देखा जाता है कि रोगी स्वेदन के योग्य है या नहीं। फिर रोगी के दोष, देश, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय इन अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है।

(ii) आवश्यक उपकरण व सामग्री – स्वेदन उपकरण (यंत्र) वातनाशक तैल, वस्त्र, ऊष्ण जल पात्र, नेत्र बंधन पट्टिका, बर्तन आदि।

(iii) परिचारक (Attendent) – रोगी की सेवा, उठाने बैठाने के लिए, स्वेदन हेतु एक परिचारक की आवश्यकता होती है।

(iv) औषध व स्वेदन कर्म निर्धारण (Assesment of medicine and procedure of swedan)– रोग एवं रोगी की प्रकृति अनुसार स्वेदन विधि का चयन चिकित्सक द्वारा किया जाता है। तथा आवश्यक एवं उपद्रव में काम आने वाली औषधियों का संग्रह करना चाहिए।

(v) आहार एवं वेशभूषा (Diet and uniform) – स्वेदन कर्म से पूर्व जल या अन्य द्रव पान करवा जाता है तथा सिर पर गीला कपड़ा रखा जाता है एवं रोगी को न्यूनतम कपड़े या लगोट (कोपीन) पहनने का निर्देश देते है।

(vi) मनोबल बढ़ाना– स्वेदन के समय कई बार रोगी डर जाता है अतः उसका मधुर वचनों द्वारा मनोबल बढ़ाया जाता है।

रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन गति तथा चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र आदि को सूचीबद्ध किया जाता है।

2. प्रधान कर्म (Main opreative procedure) – रोगी की अवस्थानुसार जिस स्वेदन विधि का चयन किया जाता है वह प्रधान कर्म में आता है।

निरीक्षण– स्वेदनकाल में निरीक्षण का बहुत महत्व होता है। निरीक्षण में स्वेदन समय, सम्यक् स्विन्नादि लक्षण तथा उपद्रवादि का सतत् निरीक्षण किया जाता है।

प्रत्येक स्वेद में निर्देशानुसार निश्चित समय तक स्वेदन किया जा रहा है या नहीं इसका ध्यान रखा जाता है। यदि रोगी को आंखों में जलन या बैचेनी होती है तो उसकी आँख पर कमल आदि शीतल पुष्प या शीतल पट्टी बांधनी चाहिये।

रोगी में स्वेद प्रवृति उत्पन्न होने पर सम्यक् स्विन्न लक्षणों की परीक्षा कर प्रक्रिया की निवृत्ति (समाप्ति) की जाती है।

स्वेदन का विश्लेषण (Analysis of Svedan) – स्वेद के सम्यक् लक्षण लगभग 5 से 15 मिनट के मध्य रोगी की अवस्थानुसार मिल जाते है।

(b) हीन योग होने पर– यदि स्वेदन के हीन योग के लक्षण उत्पन्न होते हैं तो पुनः स्वेदन किया जाता है।

(c) अतियोग होने पर– ग्रीष्म ऋतु में वर्णित आहार-विहार स्वेदन कर्म को रोक दिया जाता है तथा रोगी को विश्राम कराया जाता है। तथा अत्यधिक पसीना आने के कारण रोगी के शरीर में जल की कमी (Dehydration) हो जाती है जिसकी पूर्ति के लिए अत्यधिक जल या औषध द्रव का पान करवाया जाता है। जैसे–ORS, ग्लूकोस (मुख या सिरा द्वारा) (Intraveinous infusion) जिससे Electrolytes balance किया जा सके।

10. स्वेदन के सम्यक् योग, अयोग एवं अतियोग के लक्षण (Samyak Yoga, Ayoga and Atiyoga of Svedana) –

सम्यक् योग

शीतशूल व्युपरमे स्तंभ गौरव निग्रहे।
संजाते मार्दवे चैव स्वेदनात् विरतिर्मता।। (च. चि. 14/13)
स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वंमार्दवञ्चातुरस्य।
सम्यग् स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन् मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव।। (सु. चि. 32/23)

1. ठण्डक का महसूस न होना। 2. शूल का शांत होना।
3. भारीपन का कम होना। 4. अंगों की जकड़ाहट का कम होना।
5. शरीर में कोमलता का आना। 6. स्वेद का निर्गम।
7. रोग का समाप्त होना। 8. शीत वातावरण में जाने की इच्छा रखना।

स्वेदन के हीन योग के लक्षण (Symptoms of deficiet sudation) -

सम्यक् योग के विपरीत लक्षणों का होना।

1. सम्यक् स्वेद के लक्षणों का न होना। 2. शरीर से पसीना न निकलना।
3. शूल का शांत नहीं होना। 4. ठण्डक का दूर नहीं होना।
5. शरीर के भारीपन में कमी न होना। 6. स्तब्धता का बना रहना।
7. शीत की इच्छा न होना।

स्वेदन के अतियोग के लक्षण (Symptoms of excessive Sudation)

पित्त प्रकोपो मूर्च्छा च शरीर सदनं तथा।
दाहः स्वेदाङ्गग दौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्। (च. सू. 14/14)
स्विन्नेऽत्यर्थं संधिपीड़ा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्त प्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रान्तिदाह तृष्णा क्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानं।। (सु. चि. 32/24)

1. पित्त एवं रक्त प्रकोप 2. मूर्च्छा होना 3. थकावट का होना।
4. अत्यधिक पसीना आना। 5. शरीर में जलन होना। (दाह) 6. त्वचा पर फफोले निकलना।
7. चक्कर आना। 8. अत्यधिक तृष्णा का लगना। 9. वमन होना।
10. स्फोटोत्पत्ति का होना।

11. स्वेदन व्यापद् एवं निराकरण (Complication of Sudation & its management)

स्वेदन व्यापद्–

(1) स्तम्भन (2) निर्जलीकरण

1. स्तम्भन – यह स्वेदन के हीनयोग का लक्षण है। इसमें रोगी का शरीर जकड़ जाता है।

उपचार – रोगी का पुनः स्वेदन किया जाता है जब तक सम्यक् स्वेदन के लक्षण प्राप्त न हो।

2. निर्जलीकरण – यह स्वेदन का अतियोग का लक्षण होता है।

इसमें शरीर से अत्यधिक पसीना निकलने के कारण शरीर में पानी की कमी हो जाती है। जिससे रोगी में चक्कर का आना, मूर्च्छा आना, श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपचार – ग्रीष्म ऋतुचर्यानुसार आहार विहार तथा उपचार किया जाता है।

1. मधुर स्निग्ध शीतल द्रव आहार का प्रयोग।
2. घी-चीनी मिला सत्तू का ठण्डा घोल पीने को दें।
3. अंगों पर शीतल चंदनादि का लेप करें।
4. शीतल उद्यान, शीतल पुष्प, पत्र, शय्या का प्रयोग करें।
5. मधुर रमणीय द्रव्य का अवलोकन।

आचार्य ने स्वेदन अतियोग में स्तम्भन चिकित्सा बताई है।

12. स्वेदन पश्चात् कर्म (Post Sevadan managment)– यह निम्न क्रमों में सम्पन्न होता है–

(i) रोगी खुली हवा का सम्पर्क, ठण्डे जल का सम्पर्क न करें इसका निर्देश दिया जाता है।
(ii) गरम पानी से शरीर का स्वाजिन कर स्वेद शरीर से हटाया जाता है।
(iii) आतुर को विश्राम करवाया जाता है।
(iv) कुछ समय पश्चात् गरम पानी से स्नान करवाया जाता है।
(v) रोगी को आहार में द्रव, लघु, अनभिष्यंदी भोजन देकर वातरहित वातावरण में रखा जाता है।
(vi) प्रधान कर्म पश्चात् रोगी का तापक्रम, नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप को सूचीबद्ध करते है।
(vii) यदि कोई उपद्रव जैसे जलाल्पता (Dehydration) मूर्च्छा (Fainting) दाह, जलना, तन्द्रा, उत्क्लेश दिखाई दे तो तुरन्त आत्ययिक चिकित्सा (Emergency management) करें।

13. स्वेदन की कार्मुकता (Mode of action of Svedana)

1. स्तम्भन– स्तम्भ का अर्थ है जकड़ाहट। अतः स्तम्भ में स्निग्ध व उष्ण स्वेद कार्य करता है। उष्ण गुण धातुओं में विचरण करता है व आम को पचाता है।
2. गौरवघ्न– शरीर में भारीपन हो तो स्वेद से दूर होता है। स्वेदन से आप्य घटकों का स्वेद द्वारा निष्क्रमण होता है। व गौरवता का नाश होता है।
3. शीतघ्न– स्वेद से ठड़ापन दूर होता है। क्योंकि स्वेद से पसीना खूब निकलता है। जिससे शरीर की उष्मा का नाश होता है।
4. स्वेदकारकता– स्वेद एक मल है। इस मल के साथ त्वचा के सातों स्तरों पर रुकी हुई तथा पेशियों वातवहीनियां, रस, रक्त, मेद इनकी अशुद्धियां निकल जाती है।
5. स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम – स्नेहन दोषो को मृदु करता है व मल के संगों को दूर करता है तत्पश्चात स्वेद दोषो को द्रव करता है। उष्ण व तीक्ष्ण गुण के कारण उनमें द्रवत्व करता है। द्रव गुण घोल तैयार करने का तथा क्लिन्न करने का कार्य करता है।

(द्रवः प्रम्लेदने प्रोक्ताः आलोडने द्रव)

Modern view for sudation

During fomentation, heating the tissues results in rise in temprature, the main reaction to which is as follows:

Increased metabolism: Heating of tissues accelerates the chemical changes i.e. metabolism Due to increased body temprature, sympathetic activities are also increased because of increased metabolism, there is an increased demand for oxygen and food stuffs and increased output of waste products including metabolites.

The temperature control system employs two important mechanisms to reduce heat when the body temprature is too hot during svedana karma.

Vasodilation: If the body temperature raise a negative feedack action becomes active to reach to normal temperature higher temperature of the blood stimulates thermoreceptors that send nerve impulses to the preoptic area of the brain, which in turn stimulate the heat losing center and inhibit the heat promoting center. Nerve impulses from the heat losing center cause dilation of blood vessels and there is an increased blood flow though the area so that the necessary oxygen and nutritive materials are supplied and waste products are removed.

Inccution of sweating:

A high temprature of blood stimulates sweat glands of the skin via hypothermic activation of sympathetic nerves and by this prodcure excessive sweat production take place.

Incrase in body tempratue by 1 degree causes enough sweating to remove 10 times of the basic rate of body heat production

In various types of svedana karma, different drugs are used like milk, rice, mamsa, vata kapha hara drug etc. svedana causes vasodilation through which drugs are absorbed into the body and does their action along with action of svedana.

14 (a) Sauna bath

A sauna has low humidity and is much hotter than a steam room. There are 2 types of saunas: conventional saunas warm the air in the room and infrared saunas that warm objects using charcoal or active carbon fibers has heating material. They are often heated with stones placed on some kind of heater (usually electric or wood-burning); water is poured on the stones in small intervals that produce a thick cloud of steam. This has the effect of raising the temperature in the sauna by several degrees but the steam quickly disappears. Saunas are usually wood-lined and have wooden benches to sit on. They are insulated to retain the heat but there is no concern about moisture damage to the outside structure

Method of Sauna bath

- Wear minimal cloth as required
- Drink 1-2 glass of water or any sports drink (avoid caffeine) which has electrolytes.

- Do not take a sauna bath for over 10-15 minutes.
- Discontinue the sauna bath, if feel uncomfortable or become sleepy.
- Cool off with cool fresh air and cool water without shocking the system and avoid shivering; take a warm foot bath if there is cold feet and then repeat the session, but not more than 3 sessions at a time in the sauna bath.
- Should not allergic to any aromatherapy oils before use.

Benefits of Sauna bath

- Blood vessels become more flexible and there is increased circulation to the extremities. During a sauna bath, blood flow to the skin increases to as high as 50-70% of cardiac output (compared to the standard 5-10%). This brings nutrients to subcutaneous and surface tissue resulting in glowing healthy skin.
- Sauna heat puts the body into an artificial fever state (hyperthermia). Fever is part of the body's natural healing process. This "fake fever" stimulates the immune system resulting in an increased production of disease fighting white blood cells and antibodies. While the growth of bacteria and virus is forced to slow down.
- It opens skin pores, soothes sore muscles, and increases circulation. However, more than common metabolic waste products are secreted through the skin.
- Athletes use Saunas to loosen tight muscles after a hard workout.

Precautions of sauna bath

- Do not use alcohol prior to or during a sauna bath.
- Body requires adequate time to cool down after workout before expose it to the heat of a sauna to avoid heat stroke. It should be for at least 20 minutes.
- Drink plenty of water before and after the sauna bath to replace fluids lost during the treatment. Symptoms of too much dehydration include dizziness, vertigo, rapid heartbeat, or excessive thirst and also not to eat any large meals
- Limit sauna/steam time to 10 to 15 minutes.

Contraindications

- Epilepsy and other medication like antibiotic and tranquilizers
- Person with low blood pressure(as sauna bath decreases blood pressure)
- Pregnant women should not use sauna.
- Children with precautions.

14 (b) Steam bath

A steam bath room is a virtually airtight room where steam is fed with the help of a steam generator builds up a humidity level of around 100%. Steam rooms are usually finished in ceramic tile and the ceiling must be slanted so that the steam buildup does not drip from the ceiling onto the bathers. The primary goal of steam rooms is to make the bather sweat for detoxification purposes.

Method of steam bath

Same as sauna bath except shower as this is to moisten the skin and to remove any possible body or fragrant odors, which do not belong to the sauna.

Benefits of Steam bath

The steam bath benefits can be divided into 3 categories:

(a) Physical health benefits
(b) Mental health benefits
(c) Skin health benefits

(A) Physical steam bath benefits

Respiratory troubles like Asthma, Bronchitis, Coughs, Hoarseness and Allergies and also helpful for detoxification, having positive effects on liver and circulation problems

Others like

- Arthritis
- Rheumatism
- Stiff joints
- Muscular pain
- Muscular tension

Steam bath works in two ways; it eases the pain and speeds up the healing of hurt tissues and muscles. The heat enlarges blood vessels which boosts blood circulation, this makes that oxygen and nutrients can get to the injured parts of your body more easily

(B) Mental steam bath benefits

- Stress
- Anxiety
- Sleeping disorders (especially through over-excitability)
- Negative energies

(C) Skin health benefits

- Dry skin

× × ×

अध्याय–4

वमन कर्म
(Vamana Karma)

वमन परिचय (Introduction)

वमन का सामान्य अर्थ है– उल्टी, कय

जिस प्रक्रिया में उर्ध्व मार्ग से दोषों को बाहर निकाला जाता है, वह वमन कहलाता है। वमन उर्ध्वमार्गीय शोधन है।

1. (a) वमन शब्द की व्युत्पत्ति (Etymology of vamana) वम् से ल्युट् प्रत्यय लगाने से पुल्लिंग वमन शब्द बनता है। जिसके चार अर्थ है–

(1) छर्दि (उल्टी) (2) मर्दन करना
(3) निःसारण या निकाल देना और (4) सर्ग या अभिष्यंदन।

पर्याय– छर्दि प्रच्छर्दन, निःसारण, अभिष्यन्दन आहरण।

1. (b) वमन परिभाषा (Definition of Vamana)

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्। (च. क. 1/4)

ऊर्ध्वभाग अर्थात् मुखमार्ग से प्रकुपित वातादि दोष और शरीर में बाधा करने वाले मलों का निकालना वमन कहा जाता है।

कफ की चिकित्सा के लिए वमन सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषों को निकटतम मार्ग से वमन द्वारा निर्हरण किया जाता है।

कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषों को स्नेहन स्वेदन द्वारा स्थान से हटाकर चलायमान अवस्था में प्राप्त करते है। शाखाओं से दोष कोष्ठ में लाकर निकटतम मार्ग से वमन द्वारा निर्हरण करते है।

'वृद्धानिर्हरतव्यो' – बढ़े हुए दोषों का निर्हरण करना चाहिए।

भावप्रकाश और शार्ङ्गधरानुसार वमन परिभाषा :–

अपक्वपित्तश्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्।
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा॥ (शा. पू. ख. 4/8)

अपक्व (दुष्ट) पित्त और कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख द्वारा बाहर निकालने की क्रिया को वमन कहा जाता है। जैसे मदनफल द्वारा।

चिकित्सक द्वारा चिकित्सा हेतु जो उल्टी (अर्थात् मुख मार्ग द्वारा दोषों को बाहर निकालना) करवाई जाती है वह वमन कहलाता है। तथा जो स्वयं होती है अर्थात् किसी रोग विशेष में या स्वयं एक रोग के रूप में या उपद्रव के रूप में हो तो वह छर्दि कहलाती है।

1. (c) वमन का महत्त्व एवं प्रयोजन (Importance and aim of Vaman Karma)

वमन की प्रधानता– कफ रोगों की प्रधान चिकित्सा में वमन कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है वामक द्रव्य (जैसे मदनफल) आमाशय में जाकर अपने प्रभाव से सम्पूर्ण विकृत कफ को मुख द्वार (उर्ध्वमार्ग) से बाहर निकल कर शरीर का शोधन करते हैं।

तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्म विकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा– भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्य–न्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति। (च. सू. 20/19)

आमाशय कफ का प्रमुख स्थान है और वहाँ से कफ का शोधन कर देने पर अन्य स्थानों में फैले कफज विकारों का भी शमन हो जाता है। जैसे किसी क्यारी का बाँध टूटने पर सारा जल बाहर निकल जाता है जिससे जल सिंचन के कारण उत्पन्न होने वाले धान्य, साठी आदि अन्न भी सूख जाते है। उसी प्रकार जल स्वरूप विकृत कफ के निकल जाने पर उससे पलित या पुष्ट होने वाले रोग स्वयं शान्त हो जाते है।

सम्पूर्ण शरीर का शोधन– वमन द्वारा आमाशय का ही शोधन नहीं होता अपितु सम्पूर्ण शरीर का शोधन होता है वमन से पूर्व स्नेहन स्वेदन कर्म किया जाता है जिससे शरीर में क्लेद की मात्रा बढ़ती है इस बढ़े हुए क्लेद में दोष घुलकर आमाशय में आ जाते है। जब वमन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तो वमन द्रव्य अपने उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुणों के प्रभाव से तथा अणु प्रवण भाव से तथा अपने प्रभाव व आकाश वायु महाभूत प्रधान होने के कारण ये दोषों को ऊपर की ओर ले जाने के स्वभाव से उर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) द्वारा बाहर निकाल देते है।

विरेचन पूर्व वमन विधान– स्नेहन स्वेदन पश्चात् व विरेचन से पूर्व वमन कर्म करना चाहिए। अन्यथा अधः स्रस्त कफ ग्रहणी आच्छादन, गुरुता व प्रवाहिका उत्पन्न करता है। (सु. चि. 33/38)

2. वमन कर्म का स्वस्थ व रोगी में महत्त्व (Utility of Vamana karma in health and disease)

2a. धातुगत शोधन–

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा व स्रोतोलीना ये शाखास्थिसंस्थाः।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते॥ (अ. ह. सू. 17/29)

कोष्ठगत दोष, रस रक्तादि धातुओं में व्याप्त दोष, शाखा तथा अस्थियों में स्थित दोषों का पहले पूर्वकर्म (स्नेहन) द्वारा आर्द्र किया जाता है तथा फिर स्वेदन द्वारा क्लेद का आधिक्य होता है इस प्रकार द्रवित दोष कोष्ठ एवं महास्रोत में पहुँच जाते है और फिर वमन कर्म द्वारा अपने प्रभाव से दोष मुखमार्ग द्वारा बाहर निकाल दिए जाते है जिससे धातुगत, शाखागत तथा अस्थियों में स्थित कफगत विकारों का भी शमन हो जाता है।

2b. सद्यः लाभकारी :– अजीर्ण, विषपीत, अलसक, विरुद्धाहार, विसूचिका आदि रोगों में वमन एक सद्यः लाभकारी चिकित्सा है।

2c. आचार्य सुश्रुत के अनुसार- जिस प्रकार वृक्ष के काटे जाने पर फूल, फल आदि का नाश हो जाता है उसी प्रकार वमन द्वारा कफ, स्रोतों से मल, स्वावेद, पिडिकाएं, तन्द्रा, मुख दौर्गन्ध्य, विषजन्य उपद्रव, लालास्राव और ग्रहणी विकार नष्ट होते हैं।

3. वमन के योग्य एवं अयोग्य (Indication and Contraindication of Vaman Karma)

वमन के योग्य रोग और रोगी (Indication of Vaman Karma)

......शेषास्तु वम्याः विशेषतस्तु पीनस कुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्नि-विरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तप्रसेक(दुर्नाम)हृल्लासारोचकाविपाकापच्य-पस्मारोन्मादातिसारशोफपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधिविशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च।।

(च. सि. 2/10)

वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसार-हृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतिनासकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वो-पजिह्विका, गलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेषु अन्ये च कफव्याधिपरीता इति।।

(सु. चि. 33/18)

1. पीनस	2. कुष्ठ	3. नवज्वर	4. राजयक्ष्मा	5. कास
6. श्वास	7. गलग्रह	8. श्लीपद	9. गलगण्ड	10. प्रमेह
11. मंदाग्नि	12. विरुद्धाशन	13. अजीर्ण	14. विसूचिका	15. अलसक
16. विषपीत	17. दग्धविद्ध	18. अधो रक्तपित्त	19. मुख प्रसेक	20. दुर्नाम (अर्श)
21. हृल्लास	22. अरुचि	23. अविपाक	24. अपची	25. ग्रंथि
26. अपस्मार	27. उन्माद	28. अतिसार	29. शोफ	30. पाण्डु
31. मुखपाक	32. स्तन्यदुष्टि	33. अर्बुद	34. विदारिका	35. मेदोरोग
36. हृदरोग	37. विसर्प	38. विद्रधि	39. चित्तविभ्रम	40. पूतिनास
41. कण्ठपाक	42. कर्णस्राव	43. अधिजिह्विका	44. गलशुण्डिका	45. कफज रोग

वमन के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Vaman karma)

अवम्यास्तावत्--क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासित-मैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्व वातास्थापि-तानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशंखकर्णाक्षि शूलार्ताः। (च. सि. 2/8)

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिप्रमार्तान्। स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान् केवलवातरोगान्।। स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान्। ऊर्ध्वास्रपित्ति क्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्ति निरूहितांश्च।।

(सु. चि. 33/14-15)

1. बाल	2. वृद्ध	3. दुर्बल	4. श्रान्त	5. पिपासित
6. क्षुधित	7. अध्ययन प्रसक्त	8. मैथुन प्रसक्त	9. व्यायाम प्रसक्त	10. चिंता प्रसक्त
11. गर्भिणी	12. सुकुमार	13. उर्ध्व रक्तपित्त	14. मूत्राघात	15. आस्थापित
16. अनुवासित	17. प्लीहादोष	18. अतिकृश	19. अतिस्थूल	20. क्षतक्षीण
21. कर्म हत	22. भार हत	23. अध्व हत	24. उपवासित	25. क्षाम
26. संवृत कोष्ठ	27. कृमि कोष्ठ	28. दुश्छर्द	29. प्रसक्त छर्दि	30. ऊर्ध्ववात
31. हृद् रोग	32. उदावर्त	33. गुल्म	34. उदर	35. अष्ठिला
36. तिमिर	37. अर्श	38. वात व्याधि	39. पार्श्व रुक	40. श्रम
41. नित्य दुःखी	42. स्वरोपघात	43. अक्षिशूल	44. कर्णशूल	45. शंख-शिर शूल

अयोग्यों को वमन कराने से संभावित विकार-

1. क्षतक्षीण में वमन कराने से क्षत में वृद्धि होकर रक्त की अति प्रवृत्ति होने की सम्भावना रहती है।
2. क्षीण, दुर्बल, अतिस्थूल, अतिबाल, वृद्ध, थके हुए, क्षुधा से पीड़ित आतुर में वमन के आवेगजन्य क्लेश सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध (भयंकर रुजा) सम्भव है।
3. काम करने से थके हुए, रास्ता चलने से, उपवास, मैथुन, व्यायामादि से थके हुए, चिंताप्रसक्त, क्षाम (जर्जर) आतुरों में रूक्षता अधिक होती है, वमन से रूक्षता में वृद्धि के कारण, वात प्रकोप से रक्तस्राव अथवा क्षत का भय होता है।
4. गर्भिणियों में गर्भव्यापद्, आमगर्भ, गर्भभ्रंश उत्पन्न होकर भयंकर प्रकार के उपद्रव सम्भव है।
5. संवृतकोष्ठ, दुश्छर्दी में (जिन्हें वमन जल्दी नहीं होता) वमन हेतु अधिक कुन्थन करना पड़ता है और प्रवाहण से अंत:कोष्ठ में प्रसृत होकर वीसर्प, स्तम्भ, जाड्य, या मरण भी सम्भव है।
6. सुकुमारों में वमन कराने से हृदय में अपकर्षण (खींचा जाने जैसी पीड़ा) होकर, ऊर्ध्व भाग या अधोभाग से रक्त निकलता है।
7. ऊर्ध्वरक्तपित्ती आतुर को वमन कराने पर उदानवायु उत्क्षिप्त होकर प्राण को हरता है तथा रक्त की अति प्रवृत्ति सम्भव है।
8. प्रसक्त छर्दि (पहले से ही छर्दि हो रही हो) आतुरों में भी उपर्युक्त दोष है।
9. ऊर्ध्ववात में जिनको निरूह बस्ति दी है, अनुवासन बस्ति दी है, उनको वमन से वायु को ऊपर की तरफ प्रवृत्ति होती है।
10. हृद्रोगी आतुर को वमन कराने से हृदयोपरोध सम्भव है।
11. उदावर्ती आतुर को वमन देने से घोर उदावर्त होता है।
12. मूत्राघातादि से पीड़ितों को वमन करवाने पर अत्यन्त तीव्र रुजा होती है।
13. तिमिररोग में तिमिरवृद्धि, शिर:शूल में शूल वृद्धि होती है।

आचार्य सुश्रुत अनुसार हृदय रोग में वमन करा सकते है परन्तु आचार्य चरक ने निषेध किया है चरक ने अन्य में वमन निर्देशित किया है परन्तु वाग्भट्ट निषेध किया है।

4. वमन में कोष्ठ व अग्नि का महत्व- इसका विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है।

5. (a) वमन द्रव्य (Genral knowledge of Vaman and Vamanopaga drugs)-

मूलनी एवं फलनी वामक द्रव्य

शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने हैमवत्यपि। (च. सू. 1/80)

धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।

मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी।

एतानि वमने चैव................। (च. सू. 1/85-86)

1. मदनफल	2. जीमूतक	3. इक्ष्वाकु	4. धामार्गव
5. कुटज	6. कृतवेधन	7. वचा	8. देवदाली

वमन द्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनपायित्वात्। (च. क. 1/13)

आचार्य चरक और सुश्रुत ने मदनफल को श्रेष्ठ वामक द्रव्य कहा जाता है।

जीमूतक फल

जीमूतक बीज

वमनोपग द्रव्य-

मधुमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पा

प्रत्यक्पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति।। (च. सू. 4/8 (23))

जो द्रव्य वमन में सहायक होते हैं-

1. मुलेठी	2. लाल कचनार	3. श्वेत कचनार	4. कदम्ब	5. हिज्जल
6. कड़वी कुन्दरु	7. मदार	8. शणपुष्पी	9. अपामार्ग	10. मधु

5. (b) वमन द्रव्यों के गुण कर्म (General properties of Vaman Dravya and Action)- गुण निम्न होते हैं-

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्म व्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य...। (च. क. 1/5)

(1) उष्ण	(2) तीक्ष्ण	(3) सूक्ष्म
(4) व्यवायी	(5) विकासी	(6) प्रभाव

1. उष्ण- वामक द्रव्य अपने उष्ण गुण के कारण दोषों का विष्यन्दन (पकाकर गलाना) करते हैं। जिससे दोष कोष्ठ में चले जाते हैं।
2. तीक्ष्ण- यह शीघ्रकारी और आग्नेय है जिससे दाह, पाक, स्राव होता है। वामक द्रव्य अपने तीक्ष्ण गुण के कारण दोषों का पाचन और छेदन कर अपने स्थान से स्रवित करते हैं।
3. सूक्ष्म - यह आकाशीय, वायवीय और तेजस महाभूत युक्त होता है सूक्ष्म गुण वाले द्रव्य अपने अणु प्रवण भाव से दोषों को कोष्ठ में लाते हैं। सूक्ष्म गुण के कारण यह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोत में प्रवेश (यह अणुप्रवण भाव है।) कर वहाँ से दोषों का पाचन, विष्यंदन कर कोष्ठ में लाते हैं। (कोष्ठ की ओर लाना प्रवणता है)
4. व्यवायी-इस गुण के कारण वामक द्रव्य अपने पाचन होने से पहले ही अपना कार्य सम्पन्न कर देते हैं।
5. विकासी गुण-इस गुण के कारण वामक द्रव्य धातुओं में स्थित दोषों को पृथक करने में सहायक होते हैं।
6. ऊर्ध्वभाग प्रवृत्ति प्रभाव- वामक द्रव्य अग्नि तथा वायु महाभूत प्रधान होने से दोषों को उर्ध्वभाग की ओर फेंकने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु चक्रपाणि ने वामक द्रव्य के प्रभाव को ही उर्ध्वभाग प्रवृत्त माना है न कि महाभूतों के कारण।

5. (c) वमन द्रव्यों की कल्पना (Formulations of Vaman dravya) -

आचार्य चरक ने वमन द्रव्यों का प्रयोग अनेक रूपों में करने का संकेत दिया है। क्योंकि रोगी की प्रकृति, देश, काल आदि का विचार करके किया गया प्रयोग सफल होता है।

वामक द्रव्यों (मदनफलादि) की निम्न कल्पनाएं बताई है-

1. चूर्ण	2. कल्क	3. कषाय
4. वर्ति	5. यवागु	6. षाडव
7. नवनीत	8. अवलेह	9. कृशरा
10. तक्र	11. मस्तु	12. घृत
13. मांसरस	14. इक्षुरस	

आदि लगभग 33 प्रकार की कल्पनाओं का वर्णन है।

वमन द्रव्यों की विविध कल्पनाएं

क्र.	कल्पना	मदनफल	जीमूतक	इक्ष्वाकु	धामार्गव	वत्सक	कृतवेधन
1.	कषाय	9+8 (मात्रा)	12+7+4	9+6 (वर्धमान योग)	20	9	22
2.	क्षीरपाक	1	6	8	4	-	4
3.	घृत	1	1	1	1	-	1
4.	दही, दधि सर, तक्र	2	-	2	-	-	-
5.	नवनीत	1	-	1	1	-	-
6.	छेद	1	-	-	-	-	-
7.	फाणित	1	-	-	1	5	-
8.	चूर्ण, कल्क	1	-	-	-	-	6
9.	वर्तिक्रिया	6	8	8	10	-	8
10.	लेह	20+1	-	5	-	-	-
11.	उत्कारिका	20+1	-	-	-	-	-
12.	मोदक	20+1	-	-	-	-	-
13.	अपूप	16	-	-	-	-	-
14.	शष्कुली	16	-	-	-	-	-
15.	रागषाडव	2	-	-	-	-	-
16.	तर्पण, पानक, मंथ	2	-	1	-	-	-
17.	सुरामंड, मद्य	1	1	1	1	-	1
18.	मांसरस	1	-	2	-	-	7
19.	यूष	1	-	-	-	-	-
20.	तैल	-	-	1	-	-	-
21.	गुटिका (पल्लव)	-	-	-	9	-	-
22.	सलिल	-	-	-	-	3	-
23.	कृशरा, अन्न	-	-	-	1 भा.	1 कृ.	-
24.	पिच्छा	-	-	-	-	-	10
25.	इक्षुरस	-	-	-	-	-	1
26.	शकृद्रस	-	-	-	12	-	-
	कुल	133	39	45	60	18	60

इसमें '+' चिह्न का तात्पर्य- वर्णित संदर्भ में अन्य स्थान पर भी योग निर्देशित है जैसे मदनफल कषाय के 9+8 का तात्पर्य 9 कषाय के अतिरिक्त 8 अन्य जगह कषाय (मात्रा के नाम से) वर्णित है।

5. (d) मदनफल, कुटज, निम्ब, यष्टी, वचा का रख रखाव व गुणकर्म (Properties, actions, preparation, preservations of madanphala, kutaj, nimba, yashti, vacha)

वमन द्रव्य परिचय

1. **मदनफल**

लैटिन नाम- Randia spinosa (R. dumentorum)

फैमिली – Rubiaceace

गण- फलिनी, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग।

पर्याय- छर्दन, पिण्डी, शल्यक, विषपुष्पक, करहाट, राठ

हिन्दी नाम- मैनफल

अंग्रेजी नाम- Emetic Nut

स्वरूप - इसका छोटा वृक्ष या गुल्म लगभग 30 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन- बीज तैल में Arachidic, palmitic, steraic, oleic and linoceric acids. सम्पूर्ण वृक्ष में Saponin मुख्य कार्यकारी तत्व होता है।

रस - कषाय, मधुर, तिक्त, कटु   **गुण**- लघु, रूक्ष

विपाक- कटु   **वीर्य**- उष्ण

प्रभाव- वमन (उर्ध्वभागहर)

कर्म- **वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षतेऽनपायित्वात्।।** (च. क. 1/13)

मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्। (च. सू. 25/40)

संग्रहविधि- चरक ने मदनफल प्रयोगार्थ मदनफल संग्रहित करने की महत्वपूर्ण विधि बताई है। मदनफलों को बसन्त या ग्रीष्म ऋतु में, पुष्य या अश्विनी नक्षत्र में या मृग नक्षत्र पर ग्रहण करते हैं। जिस समय औषधि अपने वीर्य में प्रकर्षयुक्त होती है उस समय ली जाती है। फल ऐसे लेते हैं जो पके हुए हों, मध्यम आकार के हों, जो हरे न हों, जन्तुओं से खाए हुए न हों, सड़े-गले न हों। ऐसे फल लेकर उन्हें कुशपुट में बाँधकर गोमय से लीपकर यव, माष, शालि, कुलत्थ, मूंग इनमें से किसी एक में 8 दिन तक रखते हैं जब वे मृदु हो जाये, मधु जैसी गंध इनमें आये तब निकाल कर सुखा देते हैं। सूखने पर बीजपिंडों को निकाल कर इन्हें घी, दही, मधु, तिलकल्क में घोटकर फिर सुखा लेते हैं। फिर नये घड़े में (अच्छे पात्र में) प्रयोगार्थ सुरक्षित रख देते हैं, इन पिप्पलियों का उपयोग वमनार्थ करते हैं।

हरे मदनफल

शुष्क मदनफल

कुश में लपेटते हुए

गोबर में लपेटते हुए

घृत डालते हुये

दही डालते हुए

मधु डालते हुए

शोधन करते हुए

मर्दन करते हुए

शुष्क मदनफल पिप्पली

तैयार मदनफल पिप्पली

2. कुटज

लैटिन नाम – Holarrhena antidysenterica

फैमिली – Apocynaceae

गण – चरक– अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग।

सुश्रुत– आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, हरिद्रादि, लाक्षादि।

पर्याय – गिरिमल्लिका, वत्सक, वृक्षक, कालिंग, इन्द्रवृक्ष

हिंदी नाम – कुड़ा, कुड़ैया

अंग्रेजी नाम – Kurchi

स्वरूप– इसका वृक्ष 30–40 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन – बीज में – Holarresmine, kurchessine, holarridine, holonarmine, antidysentericine, crystalline, gluco-alkaloid.

मूल त्वक् में – Conessine and holacetine

त्वक् में– Conessine, holarrhenine and holarrhimine.

रस–तिक्त, कषाय — गुण–लघु, रूक्ष

विपाक – कटु — वीर्य– शीत

दोषकर्म– कफपित्तशामक

कर्म– कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसंग्राहिकोपशोषणानाम्। (च. सू. 25/40)

रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः।

हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते॥ (च. क. 5/6)

3. यष्टीमधु

लैटिन नाम– Glycyrrhiza glabra.

फैमिली– Leguminosae

गण – चरक– जीवनीय, संधानीय, वर्ण्य, कण्ठ्य, कण्डुघ्न, छर्दिनिग्रहण, शोणितस्थापन, मूत्रविरजीय, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग।

सुश्रुत– काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि। — पर्याय– मधुक, क्लीतक

हिन्दी नाम– मुलेठी — अंग्रेजी नाम – Liquorice

स्वरूप– इसका बहुवर्षीय क्षुप या गुल्मक 6 फुट तक ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन– मूल में – Liquiritigenine, licoagrone, glycyrrhizine, prenylated, biaurone, astragalin, isoliquiritigenin, isoliquiritin, liquirtin.

रस–मधुर — गुण– गुरु, स्निग्ध

विपाक– मधुर — वीर्य– शीत

कर्म– दोषकर्म– वातपित्तशामक

4. वचा

लैटिन नाम – Acorus Calamus — फैमिली – Araceae.

गण – चरक– लेखनीय, अर्शोघ्न, तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शिरोविरेचनोपग, संज्ञास्थापन, शीतप्रशमन।

सुश्रुत– पिप्पल्यादि, मुस्तादि, वचादि। — पर्याय– उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी, लोमशा।

हिन्दी नाम– वच — अंग्रेजी नाम– Sweet flag

स्वरूप– इसका सदाहरित क्षुप जलप्राय भूमि में 3–5 फीट ऊँचा होता है। इसका कन्द भूमि में अदरक के समान फैलता है।

रासायनिक संघटन– इसकी मूलत्वक् में उड़नशील तैल होता है जिसमें प्रधानतः Asaryl aldehyde होता है। इसमें दो क्रियाशील तत्वों (A-Asarone and B-Asarone) का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त Acorin, Eugenol, Caffeine भी पाया जाता है।

रस–कटु, तिक्त — गुण– लघु, तीक्ष्ण

विपाक– कटु — वीर्य– उष्ण

प्रभाव–मेध्य — कर्म– दोषकर्म– कफवातशामक, पित्तवर्धक

वचोग्रगन्धा कटुतिक्तोष्णा वातश्लेष्मरुजापहा।

कण्ठ्या मेध्या च कृमिहृद्विबन्धाध्मानशूलनुत्॥ (ध. नि.)

5. निम्ब

लैटिन नाम– Azadirachta indica — फैमिली– Meliaceae

गण–चरक– कण्डूघ्न, तिक्तस्कन्ध — सुश्रुत– आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि।

पर्याय– पिचुमर्द, अरिष्ट, हिंगुनिर्यास — हिन्दी नाम– नीम

अंग्रेजी नाम– Margosa tree — स्वरूप– इसका वृक्ष 40–50 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन– छाल में Nimbin, Nimbinin, Nimbidin, Nimbosterol, उड़नशील तैल, टैनिन और मार्गोसिन नामक घटक होते हैं।

पत्तियों में – Azadirachtin, azadirachtanin, azadirone etc.

फलों में – Melianone, nimbiol, Nimocin etc.

रस– तिक्त, कषाय — गुण – लघु

विपाक– कटु — वीर्य– शीत

कर्म– दोषकर्म– कफपित्तशामक

6. वमन का पूर्व कर्म (Poorva karma of Vaman Karma)–

पूर्व कर्म को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

1. संभार संग्रह — 2. आतुर परीक्षा — 3. आतुर सिद्धता

1. संभार संग्रह (Collection of necessary facilities) :-

सामग्री तथा उपकरण (Equipments) – वमन योग्य एक कक्ष जिसमें पानी, शौचालय की व्यवस्था होनी चाहिए। उपकरण में वमन पीठ या एक कुर्सी, बाल्टी, टेबल, गिलास, कटोरी, भगोनी, नेपकीन, कमल पुष्प नलिका, उष्ण पात्र, उष्ण जल पात्र, वेगबंधन पट्टिका, दस्ताने आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

औषध (Medicine) – वमन कारक औषध योगों को तैयार करने के लिए औषधी को संचित करके रखना तथा के उपद्रवों के शमन हेतु भी पहले से ही औषधि की व्यवस्था चाहिए। अर्थात् वामक एवं वमनोपग तथा उपद्रव निवारक औषधियाँ होने तथा आकण्ठ पान हेतु दूध, इक्षु रस आदि होने चाहिए।

दूध / इक्षु = 2– 3 लीटर — मुलेठी फाण्ट = 2– 3 लीटर

लवणोदक 2–3 लीटर — शुद्ध जल 2–3 लीटर

परिचारक (Assisting Staff) – वमन हेतु (4) परिचारक की आवश्यकता होती है।

2. आतुर परीक्षा (Examination of the patient)

(a) आतुर परीक्षण– रोगी वमन योग्य है या नहीं इसका निर्णय किया जाता है यह देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व प्रकृति के आधार पर किया जाता है।

(b) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – रोगी का वमन कराने से पूर्व चिकित्सा में उत्पन्न होने वाले उपद्रव आदि की जानकारी देते है तथा उनकी लिखित में सहमति ले लेते है।

(c) तापक्रमादि सारणी (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप, वजन आदि का मापन सम्पूर्ण वमन प्रक्रिया में 4 बार किया जाता है। (1. पूर्व कर्म, 2. प्रधान कर्म में 2 बार, वमन योग के पूर्व तथा पश्चात् 3. पश्चात् कर्म में)

3. आतुर सिद्धता– दीपन पाचन व स्नेहपान

7. वमन कर्म पूर्वदिन दोष उत्क्लेशन (Managment of one gap day Abhyanga and Svedana, special kapha increasing diet)–

स्नेहपान के जिस दिन सम्यक् स्नेहन के लक्षण मिले उसके आगले दिन सर्वांग अभ्यंग व सर्वांग स्वेदन रोगी को कराया जाता है।

अथच्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नं छर्दयितव्यतितिव्यमिति ग्राम्यानूपौदक मांसरस

क्षीरदधिमाषतिलशाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं.... (च. क. 1/14)

ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः॥ (च. सि. 1/8)

नरः श्वो वमनं पाता भुंजीत कफवर्धनं॥ (च. सि. 6/18)

जिस रोगी का वमन कर्म कराना है उस रोगी को एक दिन पूर्व गुरु उत्क्लेशित आहार दिया जाता है जैसे- खीर, घी, केला, दही, रबड़ी आदि कफवर्धक आहार दिया जाता है तथा प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् उसका वमन कर्म करवाया जाता है।

8. प्रातःकाल आतुर सिद्धता (Prepation of the patient on morning of vamana day)

कृतबलि होम मंगल प्रायश्चित्त विप्रमनतिस्निग्धयवागूमात्रा पीतवन्तम्...। (च. क. 1/14)

च. पा. –अनतिस्निग्धमित्यादिना वमन दिन एव घृत मात्रा युक्त यवागूपानपूर्वक वमनमनतिस्निग्धयुक्त विधत्ते। अन्ये तु पूर्वदिन एवाजति स्निग्धस्य घृतमात्रां पीतवत एव यवाग्वाः पानमाहुः पेयालैः विविधैः....(सुश्रुत) इत्यादि सुश्रुतोक्तेः।

वमन के दिन वमन पूर्व–यवागू+घी। दूध देते हैं।

अथच्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नम्...। (च. क. 1/14)

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नं अनभिष्यंदि...। (सु. चि. 33/5)

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधिः। (अ. ह. सू. 18/12)

स्नेहन, स्वेदन– रोगी का यथोचित स्नेहन स्वेदन किया गया हो।

वमनकालिक आचार– रोगी से ठीक प्रकार से बातचीत करनी चाहिए तथा उसे यह समझाएँ कि वमन से उसके रोग का शमन होगा। वमन के प्रति उसकी श्रद्धा तथा विश्वास जागृत करें। उसका हौसला बढ़ाएँ।

वेश भूषा– रोगी की वेशभूषा साफ सुथरी तथा सुविधाजनक होनी चाहिए। इस हेतु एप्रिन का प्रयोग भी कर सकते हैं।

9. वामक योग निर्माण विधि एवं वमन विधि (Prepation and method of administration of vamanopaga dravya and vaman karma administration).

वमन कराने वाली औषध पिलाने के बाद से जब तक वमन का वेग पूरा नहीं होता, इस बीच जो भी कार्य किए जाते हैं वे सभी प्रधान कर्म में आते हैं।

(वमन पीठ)

वमन का आयोजन– वमन हेतु रोगी को आरामदेह कुर्सी या वमन पीठ पर बिठाया जाता है जिसकी बनावट ऐसी हो इतनी ऊँची हो कि रोगी उसके सहारे शिर टिका पाए। रोगी को एप्रिन पहना दिया जाता है तथा कुर्सी के दोनों हत्थों पर एक–एक छोटी तौलिया रख देते है जिससे रोगी अपना मुँह साफ कर सकें।

रोगी के जैविक मानक (Vital recording) जैसे रोगी की नाड़ी, श्वासगति, तापमान, रक्तचाप एक चार्ट पर अंकित कर लेते हैं।

9. (a) औषध पान (Administration of vamana opaga dravya)– वमनार्थ औषध पान से पूर्व रोगी को आकण्ठ दुग्ध या इक्षुरस पान कराया जाता है। जिसका मापन लिया जाता है और यह जितना पान कराते है उसे चार्ट बनाकर नोट कर लेते है। उसके बाद वमन योग देते है (जब रोगी बिल्कुल दुग्ध या इक्षु रस पीने से मना कर दे (आकण्ठ पान)

वमन पूर्व यवागु पान

दुग्ध

मधुयष्टि फाण्ट

लवणोदक

दुग्ध पिलाते हुए

आकण्ठ दुग्ध पान

वमन योग लेते हुए

मधु मिश्रित वमन योग

मधुयष्टि फाण्ट पान

मधुयष्टि फाण्ट पान लवणोदक पान वमन वेग

वमन वेग वमन वेग वमन वेग लवणोदक सेवन पश्चात्

पित्तान्तक वमन

9. (b) वामक योग (Administration of vamaka yoga)–

अभिमंत्रितां मधुमधुकसैंधवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पायेत्। (च. सू. 15/9)

..... तासां फलपिप्पलीनां अंतर्नखमुष्टिं यावद्वा साधुमन्येत जर्जरीकृत्य यष्टीमधुकषायेण कोविदारकर्बुदार-नीपविदुलबिंबीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्‌-पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधुसैंधवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मंत्रेणाभिमंत्रयेत्.... इत्येवमभिमंत्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेत्॥ (च. क. 1/14)

मदनफल - 4 भाग (6-10 ग्राम) या अन्तर्नखमुष्टि प्रमाण

वचा - 2 भाग (3-5 ग्राम)

सैंधव - 1 भाग (1.5- 3 ग्राम)

मधु - आवश्यकतानुसार (20 ग्राम-30 ग्राम)

वामक योग या औषध पिलाते समय निम्न वाचन का विधान है-

ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानल------भैषज्यमिदमस्तु ते। (च. क. 1/14)

इस अभिमंत्रित औषध को पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठे रोगी को पिला देते हैं।

10. दोष गति लक्षण (Lakshana indicating Doshagati during the process) –

पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकांक्षेत, तस्य यदा जानीयात् स्वेद प्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपि चोर्ध्वमुखी भूतमथास्मैजानु-समाबाधं सुप्रयुक्तमास्तरणोत्तर प्रच्छदोपधानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्॥ (च. सू. 15/11)

वमन औषध पिलाने के बाद एक मुहूर्त (48 मिनट) तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद

(1) ललाट पर स्वेद बिन्दु दिखे तो यह जाने कि दोष स्रोतों में विलीन हो रहे हैं एवं द्रवीभूत होकर उर्ध्वगमन कर रहे हैं।

(2) रोमहर्ष को देखकर यह जाने की दोष स्थानच्युत हो रहे हैं तथा कोष्ठ की ओर गति कर रहे हैं।

(3) कुक्षि में आध्मान होने पर यह समझे कि दोष कोष्ठ में आ गए हैं।

(4) हृल्लास और लालास्राव होने पर दोष आमाशय से ऊपर मुख की ओर आ गये हैं।

11. वमन कर्म निरीक्षण (Management during Vamana karama and observations)-

तब रोगी को सामने स्टूल पर रखे वमन पात्र या वमन पीठ में वमन करने के लिए कहते हैं।

यदि वमन न हो रहा हो तो कमलनाल या एरण्ड नाल या स्वयं रोगी की अंगुली को कण्ठ में स्पर्श करने को रोगी को कहा जाता है।

प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्–ललाट प्रतिग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभि।

प्रपीडने पृष्ठोन्मर्दने चानपत्रपणीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रयतेरन्॥ (च. सू. 15/11)

वमन वेग आने पर परिचारक रोगी की पीठ नीचे से ऊपर की ओर सहलाता है तथा दूसरा परिचारक शंख प्रदेश और ललाट को हाथों से दबाएं इससे शीघ्र ही वमन होता है।

हीनवेगंतु पिप्पल्यामलक सर्षप वचाकल्क लवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनात्॥

(च. क. 1/14)

परिचारक को बीच-बीच में पहले मुलैठी फाण्ट पूरा होने के बाद लवणोदक आदि को पिलाते रहना चाहिए तथा इसको चार्ट में नोट कर लिया जाता है तथा वमन वेग आने पर वमन वेग को चार्ट में नोट कर लिया जाता है। 8 वेग आने पर या पित्तान्त लक्षण को सम्यक् शुद्धि मानकर, वमन सम्यक् हो गया यह समझा जाता है।

कुल पीये हुए द्रव अर्थात् पीत द्रव का तथा उत्सृष्ट द्रव (वमन द्वारा निकला द्रव) का मान नोट कर लिया जाता है उत्सृष्ट द्रव का मान पीत द्रव की अपेक्षा अधिक प्रमाण में होना प्रशस्त है। इस बीच में जैविक मापन (Vital recording) जैसे नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप को भी नोट करते रहते हैं।

12. वमन के सम्यक् हीन व अतियोग का विश्लेषण (Symptoms of samyakyog, Ayoga and atiyoga of vamana karma)

सम्यक् वमन लक्षण (Features of adequate Vamana)

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यक् वमितः स इष्टः।

हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे॥ (च. सि. 1/15)

आचार्य चरकानुसार–

क्रम से कफ-पित्त-वात का निकलना। हृदय में, पार्श्व, शिर, इन्द्रियों के मार्ग की शुद्धि और शरीर में हल्कापन का होना बतलाया है।

पित्ते कफस्यानुसुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कंठ शिरः सु चापि।

लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्॥ (सु. चि. 33/9)

निर्विबंध प्रवर्तन्ते कफपित्तानिला क्रमात्। सम्यग् योगे। (अ. ह. सू. 18/25)

अन्य आचार्य के अनुसार

(1) शरीर में लघुता (2) अग्नि का दीप्त होना। (3) कण्ठशुद्धि का होना।

(4) मन का प्रसन्न होना। (5) वमन के समय अधिक कष्ट न होना।

हीन योग के लक्षण (Features of inadequate Vamana)

केवलस्य वाप्यौषधस्य, विभ्रंशः विबंधो वेगानां अयोग लक्षणानि भवन्ति। (च. सू. 15/13)

दुश्छर्दिते स्फोटक कोठकंडू हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च। (च. सि. 1/16)

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिंगमाहुः। (सु. चि. 33/8)

(1) वमन के वेगों का ठीक से न होना, एक-एक कर होना। (2) केवल औषध का ही बाहर आना।

(3) शरीर में भारीपन का होना। (4) स्फोट

(5) कण्डु (6) कफप्रसेक तथा

(7) ज्वर का होना। (8) हृदय में भारीपन

अतियोग के लक्षण (Features of excessive Vamana)–

योगाधिक्येन तु फेनिलरक्त चंद्रिकोपगमनं इत्यतियोगलक्षणानि भवन्ति। (च. सू. 15/13)

पित्तातियोग च विसंज्ञता च हृत्कंठपीडामपि चातिवाते॥ (सु. चि. 33/8)

अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत्। वमितं क्षामता दाहः कंठशोषस्तमो भ्रमः।

घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणित निर्गमात्॥ (अ. ह. सू. 18/25, 26)

(1) वमन के अतियोग होने पर झागदार रक्तचन्द्रिकाओं का निकलना। (2) तृष्णा की अधिकता।

(3) मोह (4) मूर्च्छा का होना।

(5) वात का प्रकोप होना। (6) निद्रा का नाश होना।

(7) कण्ठ में पीड़ा का होना। (8) दाह होना

(9) पित्त की अधिक प्रवृत्ति का होना।

अतियोग में उपचार–

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः। पिबेत् कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम्॥

सोद्गारायां भृशं छर्द्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः। समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम्॥

वमतोऽन्तः प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः। स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषैः क्षीररसैर्हिताः॥

फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः। निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्॥

वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्। यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान्॥

(च. सि. 6/52-56)

1. शीतल जल से परिषेक कर घी-चीनी मिला हुआ कफहर मंथ देना चाहिए।
2. उद्गार और मूर्च्छा में धनिया, नागर मोथा, मधुक (महुआ) और रसाञ्जन (रसौत) का चूर्ण मधु से देना चाहिए।
3. यदि वमन करते हुए जिह्वा भीतर चली गयी हो तो स्निग्ध, अम्ल-लवण रसयुक्त, रुचिकर यूष, दुग्ध या मांसरस का कवलधारण करायें। उसके सामने चटखारे देकर अम्लफल (इमली की चटनी) खावे जिसे देखकर रोगी की जीभ बाहर आ जाती है।
4. जिह्वा यदि बाहर निकली हो तो उस पर तिल और मुनक्का के कल्क का लेप कर उसे हाथ से पकड़कर अंदर प्रविष्ट करायें।
5. वाग्ग्रह या अन्य वातज रोग हों, तो स्नेहन-स्वेदन करें और घृत तथा मांसरस से सिद्ध पतली यवागु पिलायें।

13. वमन पश्चात कर्म (Post Vaman managment)

वमन होने के पश्चात् रोगी के लक्षणों का ध्यान से निरीक्षण करते हैं। हीन योग के लक्षण होने पर पुनः वामक औषध देते हैं तथा अतियोग होने पर वमन क्रिया को रोककर अतियोग निवारक औषध देकर रोगी को विश्राम करवाते हैं।

सम्यक् वमन होने के पश्चात् आगे की क्रिया धूमपान, संसर्जन क्रम आदि की तैयारी करते हैं।

पश्चात कर्म (Paschat Karma) – जब वमन बंद हो जाए तब से लेकर प्राकृत भोजन लेने तक की कालावधि में जो कर्म किए जाते हैं वे पश्चात् कर्म के अन्तर्गत आते हैं-

(1) धूमपान (2) संयम नियम (3) संसर्जन क्रम (4) संतर्पण

इसमें सर्वप्रथम जैविक मापन (Vital recording) जैसे- रक्तचाप माप, नाड़ी आदि ज्ञात करते हैं।

1. धूमपान–

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं,

मुहूर्तमाश्वास्य प्रायोगिकस्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः

पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पर्शयेत्॥ (च. सू. 15/14)

वमन पश्चात् रोगी के हाथ पैर तथा मुख शीतल जल से प्रक्षालन कराकर (धुलाकर) एक मुहूर्त (48 मिनट) तक विश्राम कराते हैं। इस बीच रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिए। क्योंकि कदाचित् डकार, वमन वेग या लालास्राव हो सकता है फिर रोगी की प्रायोगिक, स्नैहिक या वैरेचनिक धूमपान कराते हैं।

धूमपान गले की पिच्छिलता, खरखराहट, कफलिप्तता का नाश करता है कण्ठ, मुख नासिका के द्वार शुद्ध हो जाते हैं और वमन पश्चात् जो कफ रह जाता है उसका शमन हो जाता है। इसमें पश्चात् पुनः मुख-पाद प्रक्षालन करवाना चाहिए।

2. संयम नियम–

उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्–उच्चैर्भाष्यमत्याशनमतिस्थानमतिचंक्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायप्रतिवातान् यानयानं ग्राम्यधर्मं अस्वपनं निशि दिवास्वप्नं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकालप्रमितातिहीनगुरुविषम भोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाऽप्यसेवमानः सर्वमहो-गमयस्व इति स तथा कुर्यात्॥ (च. सू. 15/15)

धूमपान के बाद रोगी को निवात स्थान में रखकर उसे निम्न सावधानियों हेतु निर्देश देते हैं।

1. तेज आवाज से न बोलना। 2. अधिक देर तक न बैठना।
3. अधिक समय तक खड़े न रहना। 4. अधिक न चलना।
5. क्रोध ना करना, शोक ना करना। 6. अधिक शीत, धूप में ना रहना, ओस, आँधी से बचना चाहिए।
7. रात्रिजागरण ना करना। 8. व्यवाय ना करना।
9. दिवास्वप्न ना करना। 10. वेग संधारण एवं अप्रवृत्त वेगों को बलात् प्रवृत्त ना करना।
11. संयोग, संस्कार, वीर्य विरुद्ध भोजन न करना, अकाल, अहितकर भोजन आदि को आचरण में नहीं लाना चाहिए।

14. हीन, मध्यम एवं प्रवर शुद्धि (Type of shuddhi-Hina, Madhya and pravara)

जघन्यमध्य प्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।

पित्तान्तमिष्टं वमनं.....

द्विवान् सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके, वमने तु पीतम्॥ (च. सि. 1/13-14)

प्रस्थस्तथा द्विचतुर्गुणश्च॥ (च. सि. 1/14)

वमन वेग निर्णय (Assessment of Vamana vega) – औषध पिलाने के बाद जितनी बार वमन होता है उसे वेग कहते हैं।

प्रवर वमन में 8 वेग मध्यम वमन में 6 वेग तथा अवर वमन में 4 वेग आने चाहिए।

प्रवर शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य 2 प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

मध्यम शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य 1½ प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

अवर शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य प्रमाण में 1 प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

वमन द्वारा शुद्धि आंकलन

शुद्धि प्रकार	प्रवर शुद्धि	मध्यम शुद्धि	अवर शुद्धि
वैगिकी	8 वेग	6 वेग	4 वेग
मानकी	वान्त मात्रा- 2 प्रस्थ	1½ प्रस्थ	1 प्रस्थ
आन्तिकी	अंत - पित्तांत	पित्तांत	पित्तांत
लैंगिकी	सम्यक् वमन के लक्षण	स. व.के लक्षण	स. व.के लक्षण

औषधपान से पूर्व दुग्ध या इक्षुरस का आकण्ठ पान करवाया जाता है परन्तु जो द्रव (दुग्ध/इक्षु) पहले वेग में निकलता है उसकी मात्रा की गणना नहीं करनी चाहिए।

15. पेयादि संसर्जन क्रम एवं तर्पणादि क्रम के विशेष योग्य (Peyadi Samsarjana karma and tarpanadi karma with their specific indication)

वमन होने के बाद आमाशय में क्षोभ होने के कारण रोगी को अग्निमान्द्य हो जाता है। अतः अग्नि की रक्षा हेतु लघु आहार की कल्पना की जाती है। जिससे मंद हुई अग्नि को पेया, विलेपी आदि के द्वारा क्रमशः सन्धुक्षित की जा सके।

यथाणुरग्निस्तृण गोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।

महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरंतराग्निः॥ (च. सि. 1/12 एवं अ. ह. सू. 18/30)

जैसे- अग्नि की अणुमात्र पर तृण या गोमय (गोबर के उपले) डालने से वह प्रचण्ड अग्नि बन जाती है उसी प्रकार संशोधन से शुद्ध व्यक्ति की अग्नि मंद हो जाती है वह पेयादि संसर्जन क्रम से महान, स्थिर और सभी आहार को पचाने वाली हो जाती है।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च।

क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधान मध्यावर शुद्धिशुद्धः॥ (च. सि. 1/11 एवं अ. ह. सू. 18/29)

यह योजना निम्न तालिकानुसार की जाती है-

प्रवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	प्रवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	
	सायं	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सायं	3. पेया
तृतीय	प्रातः	4. विलेपी
	सायं	5. विलेपी
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. विलेपी
	सायं	7. अकृत यूष
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत यूष
	सायं	9. कृत यूष
षष्ठ दिवस	प्रातः	10. अकृत मांसरस
	सायं	11. कृत मांसरस
सप्तम दिवस	प्रातः	12. कृत मांसरस
	सायं	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल = 12		

मध्यम शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	मध्यम शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	ङ
	सायं	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सायं	3. विलेपी
तृतीय दिवस	प्रातः	4. विलेपी
	सायं	5. अकृत यूष
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. कृत यूष
	सायं	7. अकृत मांसरस
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत मांसरस
	सायं	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल – 8		

अवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	अवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	
	सायं	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. विलेपी
	सायं	3. कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	4. कृताकृत मांसरस
	सायं	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल – 4		

शुद्धि अनुसार पेयादि संसर्जन क्रम

दिवस	समय/ अन्नकाल	प्रवर शुद्धि	मध्य	अवर
प्रथम दिवस	प्रातः	कोई अन्न नहीं	कोई अन्न नहीं	कोई अन्न नहीं
	सायं	पेया	पेया	पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	पेया	पेया	विलेपी
	सायं	पेया	विलेपी	कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	विलेपी	विलेपी	कृताकृत मांसरस
	सायं	विलेपी	अकृत यूष	सामान्य आहार
चतुर्थ दिवस	प्रातः	विलेपी	कृत यूष	
	सायं	अकृत यूष	अकृत मांसरस	
पंचम दिवस	प्रातः	कृत यूष	कृत मांसरस	
	सायं	कृत यूष	सामान्य आहार	
षष्ठ दिवस	प्रातः	अकृत मांसरस		
	सायं	कृत मांसरस		
सप्तम दिवस	प्रातः	कृत मांसरस		
	सायं	सामान्य आहार		

अन्नकाल के अनुसार संसर्जन क्रम

शुद्धि	अन्नकाल	दिवस
प्रवर	3	7
मध्य	2	5
अवर	1	3

4. सन्तर्पण क्रम (Tarpanadi karma with their specific indications)–

कफपित्तेऽविशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके।

तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यन्दयेद्धितान्॥ (च. सि. 6/25)

च. पा.– पेयायाः स्थाने स्वच्छ तर्पणं, विलेप्याः स्थाने च घनतर्पणं॥

जेज्जट– तर्पणादिकत्वेन च यूषरस निर्देशः।

सुतात्य पित्त श्लेष्माणां मद्यपं वातपैत्तिकं।

पेया न पाययेत्तेषां तर्पणादि क्रमोहितः॥ (अ. ह. सू. 18/46)

अ. द.– प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदनं, तृतीये मांसरसमित्येष तर्पण क्रम तेषां हितः।

रोगी की निर्बलता एवं दोष आदि का विचार कर संसर्जन क्रम के स्थान पर संतर्पण क्रम को अपनाया जा सकता है।

आचार्य चरक ने कहा है कि जिस रोगी के कफ पित्त का शोधन पूर्णरूप से न हुआ हो, जो मद्य पीने वाला हो या वात–पित्त प्रकृति का हो उसे तर्पण आदि के क्रम के साथ पथ्य देना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने सम्यक्वमन, कृत धूमपान, पुनः उष्ण जल से स्नान किये हुए शुद्ध शरीर वाले रोगी को सायंकाल कुलथी, मूंग, अरहर के यूष तथा जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन बतलाया है। चक्रपाणि ने पेया के स्थान पर स्वच्छ (लघु) तर्पण और विलेपी के स्थान पर घन तर्पण निर्देशित किया है। अरुणदत्त ने प्रथम अन्नकाल में धान का लाजा का सत्तू, दूसरे अन्नकाल में पुराने चावल का भात और तीसरे अन्नकाल में मांसरस का तर्पण देना हितकर बताया है।

तर्पण योग–

फणित, दही, जल, काञ्जी–उदावर्त एवं मूत्रकृच्छ्र में हितकारी है।

जौ का सत्तू में समभाग चीनी मिला मधु और मदिरा में घोलकर पीने से वात–मल मूत्र एवं कफ–पित्त का अनुलोमन होता है।

वमनोत्तर शोधन पश्चात् कर्म–

1. शमन हेतु– वमन के बाद यदि अन्य उपक्रम न करना हो तो जिस व्याधि के लिये शोधन किया गया था उसकी शमन चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं।

2. विरेचन हेतु– वमन के बाद यदि विरेचन करना हो तो 7 वें दिन शाम को प्राकृत भोजन के बाद पुनः 9वें दिन से स्नेहपान प्रारम्भ करना चाहिए। स्नेहपान ऐसा करना चाहिए जिससे कि वमन के 15 वें दिन विरेचन आ जाए। यह दूसरा स्नेहपान काल पूरे 7 दिन तक आवश्यक नहीं है। 9वें दिन से 11 वें दिन तक स्नेहपान 12, 13 और 14 वें दिन विश्राम काल और 15 वें दिन विरेचन दिया जाना चाहिए। मध्य शोधन वालों में और अवर शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है। परन्तु इसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है।

अनुवासन हेतु

डल्हण के अनुसार वमन के बाद 15 वें दिन ही विरेचन करावें न कि पहले और बाद में। क्यों कि धातु पाक क्रम के अनुसार कम से कम 7 दिन हो जाने के बाद ही पुनः स्नेहपान प्रारम्भ करना ठीक है। यदि 15 दिन के पहले विरेचनार्थ क्रम प्रारम्भ करें तो अग्नि बल की मंदता के कारण सम्यक् नहीं होगा। 15 दिन के बाद अधिक दिन बिताने से पूर्वकृत स्नेहन स्वेदन का फल नहीं मिल सकता। अतएव प्रवर मध्य शुद्धिवालों को भी 15 वें दिन विरेचन आवे इस प्रकार की योजना करनी चाहिये। प्रवर शुद्धि में वमनोत्तर 6 दिन संसर्जन क्रम कर, 6 दिन स्नेहपान कर 12, 13, 14 वें दिन विश्राम और स्नेहन व स्वेदन कर 15 वें दिन विरेचन करना चाहिए। चरक ने भी 9 वें दिन स्नेहपान का अनुवासन देने को कहा है। इसमें वमन के बाद विरेचन देना हो तो 9वें दिन से स्नेहपान कर पूर्वोक्त क्रम से विरेचन करावें और विरेचन के बाद बस्ति देना हो तो 9 वें दिन अनुवासन बस्ति दे ऐसा अर्थ किया जाना चाहिए।

मध्य तथा अवर शुद्धि में क्रमशः 5 वें और 3रे दिन प्राकृत भोजन दिया जाता है, तथापि उनमें भी स्नेहपान 9वें दिन से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

16. वमन व्यापद् व चिकित्सा (Complication of Vamana and their managment)

वमन के उपद्रव के कारण– 1. वैद्य द्वारा विधिपूर्वक वमन न करा, 2. परिचारक औषध का ठीक ढंग से योग नहीं बना पाना, 3. औषध हीन मात्रा में प्रयुक्त करना, 4. रोगी वमन में मनोयोग नहीं रखता है, तो इन कारणों से वमन के अयोग या अतियोग होने से 10 प्रकार के उपद्रव होते हैं–

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः।

जीवादानं सविभ्रंशः स्तंभः सोपद्रवः क्लमः।

अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः। (च. सि. 6/29–30)

1. आध्मान, 2. परिकर्त, 3. स्राव, 4. हृद्ग्रह, 5. गात्रग्रह, 6. जीवादान, 7. विभ्रंश, 8. स्तम्भ, 9. उपद्रव और 10. क्लम तथा सुश्रुतानुसार 15 व्यापद् है।

वैद्यातुर निमित्त वमनं विरेचनं च पंचदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्य अधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्य इति पृथक्; सामान्यानुभयो: सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं हीन दोषापहृतत्वं, वातशूलं, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम् आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्राव:, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं विबंध: इति॥ (सु. चि. 34/3)

वमन उपद्रवों का उपचार

1. वमन–प्रवृत्ति ठीक न होने मधुयष्टि क्वाथ में मदनफल और वचा का चूर्ण 1–1 ग्राम डालकर बारम्बार पिलाना चाहिये।
2. वमन वेग की सुगमता एवं पूर्णता के लिए सुखोष्ण लवणोदक (जल में नमक मिलाकर) पिलावें।
3. यदि अग्निमांद्य आदि उपद्रव उत्पन्न हो, तो औषध–पथ्यार्थ दीपन–पाचन और बलकारक एवं शामक औषध दें।
4. अयोगजन्य उपद्रवों के शमन हेतु निरूह (च. सि. 6/29) एवं अनुवासन (च. सि. 6/43–44) बस्ति देनी चाहिए।

17. वमनोत्तर परिहार्य विषय (Pariharya vishya)-

उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात् उच्चैर्भाष्यमत्यासनमतिस्थानमतिचङ्क्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायातिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्ममस्वप्नं निशि, दिवास्वप्नम् विरुद्धाजीर्णासात्म्याकाल प्रमितातिहीन गुरुविषमभोजनवेगसन्धारणोदीरणमिति भावानेतान्मनसाऽप्य सेवमानः सर्वमहो सर्वमहो गमयस्वेति च तथा कुर्यात्। (च. सू. 15/15)

हाथ पैर प्रक्षालित कर उस रोगी को निवातगृह में रखकर शिक्षा देनी चाहिए कि ऊँचा बोलना, अधिक बैठना, अधिक खड़ा रहना, अधिक चलना, क्रोध, शोक, अधिक शीत, अति धूप, ओस, प्रवात सवारी से चलना, स्त्री प्रसंग, रात में जागरण, दिन में सोना, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण में भोजन, अकाल में भोजन, प्रमित, अधिक भोजन, हीन भोजन, गुरु द्रव्य, विषम भोजन, वेगधारण, अप्रवृत वेगो को बलात प्रवृत करना। इन बातों को मन से भी सेवन न करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए।

18. वमन कार्मुकत्व (Mode of Action)

वामक औषधि

(उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण युक्त)

↓

स्ववीर्य से हृदय में प्रवेश

↓

धमनियों का अनुसरण

↓

स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश

↓

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले दोष समूह पर क्रिया

– उष्ण गुण से – विष्यन्दन

– तीक्ष्ण गुण से – विच्छिन्दन

↓

अणुप्रवण भाव से क्रिया

– अणुत्वं च अणुमार्ग संचारित्वम्

– प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्

↓

आमाशय में प्रवेश

↓

अग्नि और वायु भूयिष्ठता से

ऊर्ध्वगमन

↓

ऊर्ध्वभागहर प्रभाव तथा उदान वायु से प्रेरित होकर

दोषों का मुख से बाहर फेंका जाना

↓

वमन

वमन क्रिया का प्रभाव–

(1) वामक द्रव्य

↓

(2) उत्क्लेश उत्पन्न कर

↓

(3) दोषों को चलायमान कर देते हैं

↓

(4) जिससे लालास्राव, स्वेद प्रवृत्ति, श्वासवहस्रोतों में कफ का

स्राव और अन्नलिका में कफस्राव बढ़ जाता है।

↓

(5) नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है।

↓

(6) श्वासगति अनियमित हो जाती है।

↓

(7) वमन के समय आमाशय का उर्ध्व (हार्दिक) द्वार खुल जाता है।

↓

(8) अधोद्वार बंद होकर तीव्र संकोच विकास की गति उत्पन्न होती है।

↓

(9) उदर की पेशियों की और महाप्राचीर पेशी की संकोचन गति प्रबल हो जाती है

↓

(10) जिससे आमाशय के पदार्थ ऊपर की ओर फेंक दिए जाते हैं

↓

(11) इस प्रकार दोषों के निकल जाने से कफज विकार शांत हो जाते हैं।

Physiology of vomiting

Vomiting is accompanied by a complex series of movements which are controlled by the vomiting centre present in medulla oblongata. The vomiting centre is the final common pathway for the act of vomiting. It receives afferent impulses from:

- Chemoreceptor trigger zone (CTZ).
- Vestibular apparatus.
- Higher centres in the brain; and
- Pereferal structures including the GI tract and nucleus tracts

A major sensory relay stationed in the afferent vomiting pathway is the CTZ (Chemo receptor tigger zone) situated in the lateral border of the area postrema of the medulla oblongata. Direct electrical or chemical stimulation of the vomiting centre can evoke vomiting irrespective of the CTZ (Chemo receptor tigger zone). Vomiting due to irritation or over excitation of the upper GI tract does not involve the CTZ (Chemo receptor tigger zone). But is directly mediated by the vomiting centre.

Similarly it is likely that vomiting of central origin due to emotions, nauseous odours and other similar factors does not involve the CTZ (Chemo receptor tigger zone) but is due to impulses directly reaching the vomiting centre. On the other hand, vomiting of vestibular origin is mediated by the pathway: vestibular nuclei, cerebellum, CTZ and the vomiting centre.

Vomiting is usually preceded by the sensation of nausea and increased secretion of saliva, bronchial fluid and sweat. The muscles involved in the act of coughing take part in the act of vomiting and the vagal, vomiting and cough centres have a close functional relationship.

Act of Vomiting

The sequence of events that takes place in GI Tract are :-

(1) Beginning of antiperistalsis which runs from ileum towards the mouth through the intestine pushing the intestinal contents into the stomach within few minutes. The velocity of the antiperistalsis is about 2-3 cm/sec.

↓

(2) Deep inspiration followed by temporary cessation of breathing.

↓

(3) Closure of glottis

↓

(4) Upward and forward movement of larynx and hyoid bone.

↓

(5) Elevation of soft palate.

↓

(6) Contraction of diaphragm and abdominal muscles with a characteristic jerk resulting in elevation of intra-abdominal pressure.

↓

(7) Compression of the stomach between diaphragm and abdominal wall leading to rise in intragastric pressure.

↓

(8) Simultaneous relaxation of lower esophageal sphincter, esophagus and upper esophageal sphincter.

↓

(9) Forceful expulsion of gastric contents (Vomitus) through esophagus, pharynx and mouth. All the movements during the act of vomiting, throw the vomitus to the exterior through mouth.

Phases of Vomiting

Phase - I

Nausea :- Physiologically, nausea is typically associated with decreased gastric motility and increased tone in the small intestine. Additionally, there is often reverse peristalsis in the proximal small intestine.

Phase - II

Retching ("dry heaves") refers to spasmodic respiratory movements conducted with a closed glottis. While this is occurring, the antrum of the stomach contracts and the fundus and cardia relax. Studies with cats have shown that during retching there is repeated herniation of the abdominal esophagus and cardia into the thoracic cavity due to the negative pressure engendered by inspiratory efforts with a closed glottis.

Phase - III

Emesis: - gastric and small intestinal contents are propelled up and out of the mouth. When stomach is emptied fully there will be secretion of bile.

Mechanism of Vomiting
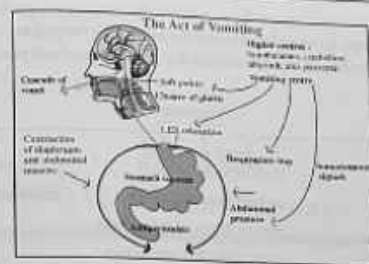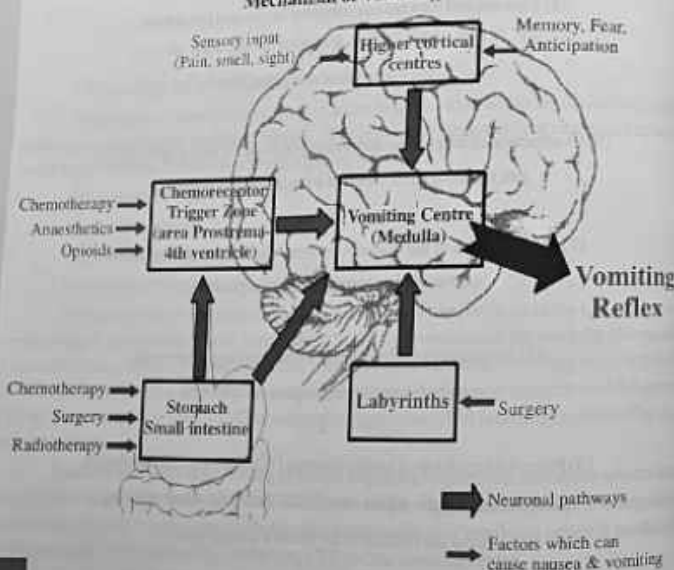
Co-Relation with modern View

Vamana karma is not merely a stomach wash, but it is a complete management of systemic diseases caused by Kapha. Particularly Urdva Amashaya is the seat of action of Kapha. The active principle of Vamana drug taken orally is absorbed from the stomach into circulatory system wherefrom it is circulated to all over the body. On reaching at the site of lesion (Dosha Sanghata), which is at the cellular level, it breaks the association of doshas and bring back the toxic substances thus released into the stomach, wherefrom they are expelled out of the body by the action of vomiting. Mild inflammation is must for purification action. It is noticed that most of the drugs employed in Vamana have mild irritation effect and produced mild inflammation facilitates the quick absorption of the active principles (Veerya) of the durg in the initial stage. Later on it facilitates the excretion of the morbid matters, which generally are not supposed to be excreted out.

It is possible only because inflammation increases the permeability of the capillaries, which in turn allow the absorption as well as excretion of the substances, which are not allowed in normal conditions. The softening (Visyandana) action of the drugs may be understood from the example of fatty degeneration. In fatty degeneration, the saturated molecules are chemically inbert and do not respond to any chemical reaction. But if the suitable catalytic agent is applied, then it will later on react to the other chemicals also to break them in smaller molecules. The smaller molecules thus formed can be driven out of the cell due to the normal function of the cell or by the action of drug and thus the cell is free from the harmful substance leading to the cure of the degeneration.

The Vamana drugs are given in full stomach when the pyloric end of stomach remains closed and all the local activities of the Vamana drugs are limited to the stomach only. As the drugs have irritant action, so a mild inflammation of the stomach mucosa is produced. It will increase the permeability of the capillaries of the stomach, which in the beginning facilitated the absorption of the active principles of the drug and later on facilitates the excretion of the toxins and metabolites

into the stomach where from they are thrown out of the body by the process of vomiting. The process of emesis therapy is considered complete as soon as the pyloric valve opens which is evident from the appearance of bile in vomitus due to the flux of anti peristalsis set during the process of vomiting.

Vamana

(a) Upper GIT when full of contents
↓
Becomes over distended over excitable
↓
Both Sympathetic and Vagal afferents

(b) Electrical stimuli and administration of certian drugs of the certain areas of the hypothalamus
↓
"Chemoreceptor Trigger Zone" Stimulation

(c) Psychic stimuli and direct stimulation

↓

Stimulates Bilateral Vomiting centre in the medulla

↓ (Leading to)

Automatic motor reactions

↓ (Leading to)

Motor impulses are transmitted from "Vomiting Centre" Through

5th, 7th, 9th, 10th, 12th Cranial nerves
↓
Upper GIT

Spinal Nerves
↓
Diaphragm and abdominal muscles

Initiates

Vomiting

× × ×

अध्याय –5

विरेचन कर्म
(Virechana Karma)

1. विरेचन परिचय (Introduction)

शरीरान्तर्गत किसी भी प्रकार के मल का किसी भी मार्ग से बाहर निकालना विरेचन कहलाता है। परन्तु रूढ होने के कारण अधोमार्ग से मल निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहा जाता है।

विरेचन शब्द सामान्य अर्थ में शोधन प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होता है जैसे उर्ध्वविरेचन (वमन), अधो विरेचन (गुद मार्ग द्वारा विरेचन), शिरोविरेचन (नस्य), मूत्रविरेचन, शुक्रविरेचन आदि अर्थों में प्रयुक्त किया है।

आचार्य चरक ने वमन के लिए भी विरेचन संज्ञा दी है। जिसे उर्ध्व विरेचन कहते है।

सामान्यतः गुदमार्ग से दोषों को बाहर निकालना ही विरेचन कहलाता है।

(a) विरेचन शब्द उत्पत्ति (Etymology of Virechana karma)–

वि+रिच्+णिच्।

ल्युट्- मलादेः निस्सरणम्।

वि उपसर्ग पूर्वक रिच् धातु में णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय लगाने से विरेचन शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ मलादि को बाहर निकालना।

(b) विरेचन परिभाषा (Definition)

तत्र दोषहरणम् अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। (च. क. 1/4)

अधोभाग अर्थात् गुदमार्ग से मल, दोषादि को निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहते है।

(c) विरेचन का महत्व (Improtance of Virechana Karma)–

पित्त की श्रेष्ठतम चिकित्सा–

विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यते भिषजः। तद् हि आदित एवं आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्नि गृहं शीतीभवति तद्वत्।। (च. सू. 20/16)

विरेचन पित्तज विकारों की श्रेष्ठतम चिकित्सा है क्योंकि विरेचन द्रव्य सर्वप्रथम आमाशय में जाकर सम्पूर्ण विकृत पित्तमूल का अपकर्षण कर अधो मार्ग से बाहर निकाल देता है। आमाशय के विकृत पित्त पर विजय प्राप्त होने पर शरीर के विभिन्न भागों में होने वाले पित्तज रोग स्वयं ही शांत हो जाते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार किसी घर में आग लगने पर आग बुझाकर काबू पाया जाता है उसी प्रकार आग बुझने के पश्चात् जो शनैः शनैः शीतलता की प्राप्ति होती है और घर शीतल हो जाता है उसी प्रकार आमाशयिक पित्त के शांत होने पर समस्त शरीर के पित्तज रोग शांत हो जाते हैं।

2. स्वस्थ व रोगी में विरेचन कर्म का महत्त्व (Utility of Virechana karma in health and disease)

(a) बुद्धि प्रसादन– विरेचन से दोषादि मलों का शोधन होने से बुद्धि का प्रसादन होता है इन्द्रियों में प्रसन्नता की प्राप्ति, धातुओं में स्थिरता, उत्साह की वृद्धि, जठराग्नि दीप्त होती है। तथा बुढ़ापा देर से आता है।

(b) स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य– शरीर के दूषित त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), मूत्र, पुरीष आदि मलों को दूर करने में, रोगों को नष्ट करने में तथा बल, वर्ण को समृद्ध बनाने में संशोधन (वमन विरेचन आदि) का प्रयोग किया जाता है।

काश्यपानुसार विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध हो जाने से धातुएँ शुद्ध हो जाती हैं और इन्द्रियाँ प्रसन्न और क्रियाशील रहती हैं तथा वीर्य की समृद्धि होकर सन्तानोत्पत्ति की क्षमता प्राप्त होती है।

संशोधन (वमन विरेचन आदि) का प्रयोग करने से व्यक्ति स्वस्थ तथा दीर्घजीवी होता है।

(c) अन्य रोगों में लाभकारी है यथा–

(i) ज्वर में विरेचन का प्रयोग शारीरिक उत्ताप को कम कर देता है।
(ii) रक्तभार वृद्धि का ह्रास करता है जिससे रक्त का दबाव न्यून होने पर आंतरिक अंगों में होने वाले रक्तस्राव में न्यूनता आ जाती है।
(iii) धमनी सिरा विस्तार (Vericose vein) और आन्त्रवृद्धि (Hernia, Apendix) आदि।
(iv) विरेचन गर्भाशय पर प्रभाव डालकर रजः स्राव का प्रवर्तन कराता है।
(v) रक्तज रोग जैसे कुष्ठ, विसर्प, रक्त पित्त, प्लीहा, विद्रधि और वातरक्त में।
(vi) पित्तज विकार जैसे पाण्डु, कामला, हलीमक में।
(vii) मानस विकारों (मद-मूर्च्छा आदि) में।

(d) सकल मल संशोधन– जिस व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त, रक्त और मल अधिक मात्रा में हो तथा वे वायु युक्त हों तथा जिनका शरीर बड़ा व बलवान हो उनमें संशोधन (वमन-विरेचन आदि) के द्वारा लंघन कराना चाहिए।

(e) हृदय व वृक्क विकृति में लाभदायक– विरेचन द्रव्य हृदय विकार और वृक्क विकृति के कारण उत्पन्न शोथरोग और जलोदर में जल सदृश मल विसर्जन कराकर, शरीर में जल की मात्रा को घटाकर शोथ को दूर करते हैं।

(f) कोष्ठबद्धता का नाश– विरेचन से अन्न नलिका में से त्याज्य पदार्थ बाहर निकाल दिये जाते हैं जिससे कोष्ठबद्धताजन्य शिरःशूल और व्याकुलता शांत हो जाती है।

3. विरेचन के योग्य व अयोग्य (Indications and contraindication of Virechana Karma)–

विरेचन योग्य रोग व रोगी (Indications of Virechana Karma)–

शेषास्तु विरेच्याः –विशेषतस्तु कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठविसर्पपांडुरोगशिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यंगनीलिकानेत्रनासिकास्यस्रवणहलीमकश्वासकासकामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दि श्वयथूदरविस्फोटकादयः, पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च॥ (च. सि. 2/13)

1. कुष्ठ	2. ज्वर	3. प्रमेह
4. उर्ध्वरक्तपित्त	5. भगन्दर	6. उदर रोग
7. अर्श	8. ब्रध्न रोग	9. प्लीहा रोग
10. अर्बुद	11. गलगण्ड	12. ग्रंथि
13. विसूचिका	14. अलसक	15. मूत्राघात
16. क्रिमिकोष्ठ	17. विसर्प	18. पाण्डु
19. शिर शूल	20. पार्श्वशूल	21. उदावर्त
22. नेत्र दाह	23. मुख दाह	24. हृदय रोग
25. व्यंग	26. नीलिका	27. नेत्र, नासिका या मुख से स्राव होने पर
28. हलीमक	29. कामला	30. कास
31. श्वास	32. अपची	33. अपस्मार
34. उन्माद	35. वात रक्त	36. योनि दोष
37. शुक्र दोष	38. तिमिर	39. अरोचक
40. वमन	41. शोथ	42. विस्फोटक रोग

43. च. सू. 20 अध्याय में समस्त पित्तज विकारों में

विरेचन के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Virechana Karma)

अविरेच्यास्तु सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलंघितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णिनवज्वरिमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः॥ (क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ता इति वमनविषय मध्ये पठिताः) (च. सि. 2/11)

1. सुकुमार	2. क्षतगुद	3. मुक्तनाल
4. अधोरक्तपित्त	5. लंघित (लंघन के बाद)	6. दुर्बल इन्द्रियों वाला
7. अल्पाग्नि (मंदाग्नि)	8. निरूह बस्ति देने के बाद	9. काम आदि से व्यग्र
10. अजीर्ण	11. नवज्वर	12. मदात्यय

13. आध्मान	14. शल्यार्दित- अतः शल्य से पीड़ित	15. आघात से पीड़ित
16. अतिस्निग्ध	17. अतिरूक्ष	18. अति दारुण कोष्ठ (अति क्रूर कोष्ठ)
19. उरः क्षत	20. क्षीण	21. अतिस्थूल
22. अतिकृश	23. बालक	24. वृद्ध
25. दुर्बल	26. श्रान्त	27. पिपासित (प्यास से पीड़ित)
28. भूख से पीड़ित (क्षुधित)	29. कार्य से थका हुआ	30. भार से थका हुआ
31. उपवास	32. मैथुन	33. अध्ययन प्रसक्त
34. व्यायाम प्रसक्त	35. चिन्ता प्रसक्त	36. क्षाम
37. गर्भिणी	38. नवप्रसूता	39. नवप्रतिश्याय
40. राजयक्ष्मा	41. अतिसार	42. हृद्रोगी
43. भयभीत	44. स्निग्ध खिन्न	

(1–37 तक चरकानुसार है, 38–44 अन्य आचार्यानुसार है, आचार्य चरकानुसार क्षीण से लेकर गर्भिणी 20 से 37 तक वमन के भी अयोग्य है।)

अयोग्यों को विरेचन कराने से सम्भवित विकार–

1. यदि सुभग में विरेचन कराया जाये तो सुकुमारोक्त उपद्रव अर्थात् हृदयापकर्षण से ऊर्ध्व या अधोभाग से रक्तप्रवृत्ति होती है।
2. जिसकी गुदा में क्षत है उसे विरेचन करने से भयंकर रुजा उत्पन्न होती है।
3. विलंघित, दुर्बलेंद्रिय, अग्नि मंद हो, जिन्हें निरूह बस्ति दी गई हो, वे विरेचनौषधि का वेग सहन नहीं कर सकते।
4. अजीर्ण अवस्था में विरेचन देने से आमदोष की उत्पत्ति होती है।
5. नवज्वर में अपक्व (आम) दोष होने के कारण विरेचन उसे निकाल नहीं सकता और वात प्रकोप होने की सम्भावना होती है।
6. मदात्यय में मद्य के कारण शरीर क्षीण हो जाने से वायु प्रकुपित होकर प्राणोपरोध होता है।
7. आध्मान के कारण पहले ही वायु प्रकोप है, अतः विरेचनौषधि के प्रक्षोभ से अत्यधिक आनाह उत्पन्न होता है। जिससे मरण भी सम्भव है।
8. शल्य से पीड़ित आतुरों में विरेचन से शल्य क्षत में वायु प्रकोप के कारण प्राण नाश सम्भव है।
9. अतिरूक्ष को विरेचन से प्रकुपित वायु शरीर को जकड़ देता है।
10. क्रूरकोष्ठ को विरेचन देने से विरेचन तो शीघ्र नहीं होता अपितु दोष प्रकुपित होकर हृच्छूल, पर्वभेद, आनाह, अंगमर्द, छर्दि, मूर्च्छा तथा प्राण नाश सम्भव है।

11. क्षतादि से गर्भिणी तक के आतुरों को विरेचन करने से वमन में कहे गये दोष उत्पन्न होते हैं।
12. मुक्तनाल, अधोग रक्तपित्त तथा अतिस्निग्ध आतुरों में विरेचन से अतिप्रवृत्ति का भय रहता है।
13. विचलित मन वाले एवं काम, क्रोध, शोक, भयादि आतुरों को विरेचन देने से कष्टपूर्वक विरेचन होता है, और अयोग लक्षण उत्पन्न होते है अथवा वेग की प्रवृत्ति ही नहीं होती। चूँकि शोक और भय ये दोनों अतिसार के हेतु भी है अतः इनमें अतिप्रवृत्ति की सम्भावना रहती है।

4. कोष्ठ व अग्नि का महत्त्व (Knowledge of Koshta and Agni)- इसका विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है।

5. विरेचन द्रव्यों के प्रकार (Classification of virechana drugs) –

आचार्य चरक ने अनेक स्थलों पर विरेचन द्रव्यों का उल्लेख किया है।

11 मूलिनी द्रव्य विरेचन द्रव्य है। (जिनका मूलचूर्ण प्रयुक्त होता है)

10 फलिनी द्रव्य विरेचन द्रव्य है। (जिनका फल प्रयुक्त होती है)

चार महास्नेह विरेचन के सहयोगी द्रव्य है।

पांच लवण विरेचन के सहयोगी द्रव्य है।

अष्ट मूत्र, अष्ट दुग्ध भी विरेचन के सहायक द्रव्य है।

शोधनार्थ 6 वृक्षों में 5 विरेचन द्रव्य है।

दश भेदनीय द्रव्य –

सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रक चिर बिल्वशङ्खिनी
शकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति॥ (च. सू. 4/8)

1. निशोथ	2. अर्क	3. एरण्ड	4. लांगली	5. दंती
6. चित्रक	7. चिर बिल्व	8. शंखिनी (यव तिक्ता)	9. कुटकी	10. स्वर्णक्षीरी

10 विरेचनोपग (विरेचन में सहायक)–

द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकभयामलक विभितककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति॥

(च. सू. 4/8)

1. द्राक्षा	2. गम्भारी फल	3. फालसा	4. हर्रा	5. आंवला
6. बहेड़ा	7. बड़ी बेर	8. बेर	9. छोटी बेर	10. पीलु

विरेचन सहायक क्वाथ द्रव्य (च. चि. 8/136)–

1. अजवायन	2. अश्वगंधा	3. नीलिनी	4. मुलेठी	5. लताकरंज
6. पूतिकरञ्ज	7. मेढ़ासिंगी	8. कबीला	9. इन्द्रवारुणी	10. रक्तपुनर्नवा
11. त्रिफला	12. फालसा	13. अनार	14. वायविडङ्ग	

इन द्रव्यों के क्षीर, मूल, त्वक् का प्रयोग क्वाथ हेतु किया जाता है।

आचार्य सुश्रुतानुसार विरेचन द्रव्य– (सु.सू. 39/4)

आचार्य सुश्रुत ने चरकोक्त विरेचन द्रव्यों के अलावा कुश, काश, बकायन तथा ज्योतिष्मती का अधिक उल्लेख किया है।

आचार्य वाग्भट्टानुसार विरेचन द्रव्य (अ. ह.सू. 15/2)–

1. दंतीमूल	2. निशोथमूल	3. त्रिफला	4. इन्द्रायणमूल
5. स्नेहवद्दुग्ध (थूहर)	6. यवतिक्ता (शंखिनी)	7. नीलबीज	8. तिल्वक (लोध्र की छाल)
9. अमलतास	10. कबीला (काम्पिल्लक)	11. दुग्ध	12. गोमूत्र
13. महभाड (स्वर्णक्षीरी)			

(a) विरेचन द्रव्यों के सामान्य गुण व कर्म (Properties of Virechana Drugs and Action)– निम्न गुण हैं-

(1) उष्ण (2) तीक्ष्ण (3) सूक्ष्म (4) व्यवायी (5) विकासी

(6) प्रभाव-अधोभागहरण

वमन व विरेचन द्रव्यों के गुण, प्रभाव को छोड़कर समान होते हैं।

1. **उष्ण** – उष्ण गुण के कारण दोषों का पाक कर उन्हें गला देता है जिससे दोष कोष्ठगमन करते हैं।

2. **तीक्ष्ण** – इस गुण से विरेचन द्रव्य दोषों का पाचन और छेदन करता है जिससे दोष अपने स्थान से स्खलन करने योग्य हो जाते हैं।

3. **सूक्ष्म** – इस गुण से स्थूल एवं अणु स्रोतों में प्रविष्ट होकर दोषों का पाचन तथा विष्यन्दन करता है एवं उन्हें कोष्ठगमनोन्मुख बनाता है।

4. **व्यवायी**– इस गुण के कारण विरेचन द्रव्य पाचन होने के पूर्व ही शरीर में फैलकर अपना कार्य करता है।

5. **विकासी** – इस गुण से विरेचन द्रव्य धातुओं में श्लिष्ट दोषों को पृथक् करते हैं।

6. **अधोभागहरण (प्रभाव)**– इस प्रभाव के कारण ही अधोभाग से दोषों को बाहर निकालता है।

इन गुणों से युक्त होने के कारण से हृदय में जाकर धमनियों का अनुसरण कर सूक्ष्म और स्थूल स्रोतों तथा धातुओं में लीन दोषों को अपनी उष्णता से विलयन, अपनी तीक्ष्णता से छिन्न भिन्न करते हैं। फिर दोष पक्वाशय में चले जाते हैं।

विरेचन द्रव्य पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान होने के कारण अधोभागहर प्रभाव युक्त होने से, अपान वायु की प्रेरणा से पक्वाशयस्थ दोषों को गुदमार्ग से बाहर निकाल देते हैं।

	वमन द्रव्य गुण	विरेचन द्रव्य गुण
1.	उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म व्यवायी, विकासी	समान गुण
2.	प्रभाव–उर्ध्व भाग	अधोभाग
3.	महाभूत– अग्नि वायु	पृथ्वी, जल

वमन/विरेचन सम्प्राप्ति

उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकासी गुण वाली औषधियाँ
↓
अपने वीर्य से
↓
हृदय में जाकर
↓
धमनियों द्वारा या धमनी का अनुसरण कर
↓
स्थूल तथा अणु (सूक्ष्म) स्रोतों में प्रविष्ट हो
↓
सम्पूर्ण शरीर स्थित दोष को उष्ण होने के कारण विष्यदंन (विलयन) तीक्ष्ण होने के कारण दोषों का छेदन
↓
विच्छिन्न हुआ दोष इधर-उधर गमन करता हुआ स्नेह से भावित शरीर होने के कारण
↓
कोष्ठ की ओर गमन

↓	↓
आमाशय में आकर उदान वायु से प्रेरित होकर	पक्वाशय/अधो आमाशय में आकर अपान वायु से प्रेरित होकर
↓	↓
अग्नि और वायु में उत्कर्ष के कारण	पृथ्वी व जल में उत्कर्ष के कारण

उर्ध्व भाग के दोषों का हरण करने का प्रभाव होने के कारण → उर्ध्व (मुख) की ओर गमन → वमन

अधोभाग के दोषों का हरण करने का प्रभाव होने के कारण → अधो (गुद) की ओर गमन → विरेचन

6. विरेचन के भेद (Types of Virechana)

चरकानुसार

1. मृदुविरेचन 2. सुखविरेचन 3. तीक्ष्ण विरेचन

1. मृदु विरेचन– जो विरेचन द्रव्य कोष्ठ स्थित पकने योग्य मलादि को बिना पकाये ही नीचे की ओर अप्रसित कर देते है वे मृदु विरेचन द्रव्य की श्रेणी में आते हैं।

जैसे- अमलतास (चतुरंगुल)

2. सुखविरेचन– जो विरेचन द्रव्य पक्व या अपक्व मलादिकों को पतला करके सुखपूर्वक नीचे अप्रसित करते हैं।

जैसे- निशोथ (त्रिवृत)

3. तीक्ष्ण विरेचन– जो विरेचन द्रव्य कोष्ठस्थ मल की गाठे को तोडकर तथा विलोडित कर मलादि को बाहर निकालता है वह तीव्रकार्यकर होता है।

जैसे- स्नुहीक्षीर

आचार्य शार्ङ्गधर और भावमिश्र के अनुसार 4 भेद :–

1. अनुलोमन 2. स्रंसन 3. भेदन 4. रेचन

1. अनुलोमन –

कृत्वा पाकं मलानां यांति भित्वा बंधमधोनयेत्।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी॥ (शा. पू. खं 4/3)

यह एक प्रकार का मृदुविरेचन है जो द्रव्य मलादि को परिपाक करके, वायु के बंधन को भेदन करके उन्हें गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।

जैसे- हरीतकी

2. स्रंसन –

पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकं।
नयत्यधः स्रंसनं तत् यथा स्यात् कृतमालकः॥ (शा. पू. खं 4/4)

जो द्रव्य कोष्ठ में स्थित पकने योग्य मलादि को बिना पकाये गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।
जैसे- अमलतास

3. भेदन –

मलादिकमबद्धं यद्बद्धं वा पिण्डितं मलैः।
भित्वाधः पातयति यद् भेदनं कटुकी यथा॥ (शा. पू. खं 4/5)

जो द्रव्य शिथिल व गाढे मलादिको के टुकडे करके गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।
जैसे- कुटकी

4. रेचन –

विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा॥ (शा. पू. खं.-4/6)

जो द्रव्य पक्व अथवा अपक्व मलादिको को पतला करके गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।
जैसे – निशोथ।

विरेचन के भेद

1. चरकानुसार

	मृदु विरेचन	सुख विरेचन	तीक्ष्ण विरेचन
1. मल प्रवर्तक	अल्प मल प्रवर्तक	सुख पूर्वक अबहु मल प्रवर्तक	अति वेग से मल प्रवर्तक
2. उदाहरण	अमलतास	निशोथ	स्नुही क्षीर

2. शार्ङ्गधर व भावमिश्रानुसार

	अनुलोमन	स्रंसन	भेदन	रेचन
मलादि की स्थिति	मलादि को पकाकर बाहर निकाले	बिना पकाये ही शरीर से बाहर निकाले	मलादि को टुकडे करके शरीर से बाहर निकाले	पक्व अथवा अपक्व मलादि को पतला करके बाहर निकाले
उदाहरण	हरीतकी	अमलतास	कुटकी	निशोथ

विरेचन द्रव्यों की कल्पनाएँ

रोगी की प्रकृति आदि का विचार कर विरेचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। चूर्ण, वटी, आसव, अरिष्ट, क्वाथ, यूष, दुग्ध, घृत, यवागु, राग, षाडव, मोदक, तर्पण, अवलेह, सुरा, क्षीरयोग, मद्ययोग, घृतयोग, तैलयोग आदि के साथ अथवा कल्पना के रूप में विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

7. त्रिवृत, आरग्वध, एरण्ड, कटुकी, जयपाल के गुण, कर्म, निर्माण व रख रखाव का सामान्य परिचय (Introduction of properties, action, prepations, preservation of Trivrutta, Aragvadha, Eranda, Kutaki, jaipal)

1. त्रिवृत

लैटिन नाम– Operculina turpethum
फैमिली– Convolvulaceae
गण– चरक– भेदनीय
सुश्रुत– श्यामादि, अधोभागहर
पर्याय– त्रिभण्डी, त्रिवृत, सरला, सुवहा, रेचनी
हिन्दी नाम– निशोथ
अंग्रेजी नाम– Indian Jalap
स्वरूप– इसकी बडी, बहुवर्षायु सदुग्ध वल्ली होती है।
रासायनिक संघटन– α and β - Turpethins, Scopoletin turpethinic acids A, turpethin, scopoletin comarin etc.

रस– तिक्त, कटु — **गुण–** लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण
विपाक– कटु — **वीर्य–** उष्ण
प्रभाव– विरेचन — **कर्म–** दोषकर्म– यह कफ पित्त संशोधक है।

त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्। (च. सू. -25/40)
विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः। (च. क. -7/3)

2. एरण्ड

लैटिन नाम– Ricinus Communis
फैमिली– Euphorbiaceae
गण– चरक– भेदनीय, अंगमर्दप्रशमन, स्वेदोपग
सुश्रुत– विदारीगन्धादि, अधोभागहर, वातसंशमन
पर्याय– गन्धर्वहस्त, पञ्चांगुल, वर्धमान, उत्तानपत्रक, व्याघ्रपुच्छ, उरुबूक, व्यडम्बक
हिन्दी नाम– रेंडी, अंडी
अंग्रेजी नाम– Castor
स्वरूप– इसका वर्षायु या बहुवर्षायु गुल्म या वृक्षक 18 फीट तक या कभी-कभी अधिक भी ऊँचा होता है।
रासायनिक संघटन–
Seeds & Leaves- ricinine (toxic alkaloid)
1- Methly-3-cyano-4 methoxy-2 - Pyridone
Seed coat- lupeol, lipids, phosphatides.
Seed oil- archidic, ricinoluc, palmitic, stearic etc.

गुण– मधुर, गुरु, उष्ण
रस– मधुर — **अनुरस–** कटु, कषाय
विपाक– मधुर — **वीर्य–** उष्ण
कर्म– दोषकर्म– कफवातशामक

एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम् (च. सू. -25/40)
वातकफहरमधोभागदोषहरं च। (सु. सू. -45/114)

3. आरग्वध

लैटिन नाम– Cassia fistula
फैमिली– Leguminosae
गण– चरक– कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, तिक्तस्कंध, विरेचन
सुश्रुत– आरग्वधादि, श्यामादि, श्लेष्म संशमन, अधोभागहर
पर्याय– राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरंगुल, आरग्वध, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, दीर्घफल, स्वर्णभूषण
हिन्दी नाम– अमलतास, सियरलाठी
अंग्रेजी नाम– Purging cassia (cassia fistula)
स्वरूप– इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का 25-30 फीट ऊँचा होता है।
रासायनिक संघटन–
Seeds- sugars, galactomannan
flowers- fistulin, leucopelargonidin tetramer, kaempferol
Pods- Fistulic acid
Bark & Heart wood- barboloin, fistucacidin
Leaves- Rhein, sennosides A & B

रस– मधुर — **गुण–** गुरु, मृदु, स्निग्ध
विपाक– मधुर — **वीर्य–** शीत

कर्म– दोषकर्म– यह मधुर और स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। रेचन होने से कोष्ठगत पित्त और कफ का संशोधन भी करता है।

चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्। (च. सू. -25/40)

4. कटुकी

लैटिन नाम– Picorhiza kurroa
फैमिली – Scrophulariaceae

गण– चरक– भेदनीय, लेखनीय, स्तन्य शोधन, तिक्तस्कन्ध
सुश्रुत– पटोलादि, पिप्पल्यादि, मुस्तादि
पर्याय– कटुका, तिक्ता, कटुरोहिणी, काण्डरुहा, मत्स्यशकला, चक्राङ्गी, कृष्णभेदा, शतपर्वा
हिन्दी नाम– कटुका, कुटकी
अंग्रेजी नाम– Picrorrhiza karro
स्वरूप– इसका छोटा बहुवर्षायु, प्रायः रोमश क्षुप होता है। मूलस्तम्भ (भौमिक काण्ड) दृढ़, 6-10 इंच लम्बा, छोटी अंगुलि जितना स्थूल, विशीर्ण पत्रधारों से आवृत, सर्पणशील होता है।
रासायनिक संघटन–
D- Mannitol, kutkiol, kutkisterol, apocyanin phenol glucosides
androsin and piceus iridoid glycosides
kutkin, picrorhizin, picroside I, II & III etc.

रस– तिक्त — **गुण–** लघु, रुक्ष
विपाक– कटु — **वीर्य–** शीत
कर्म– दोषकर्म– कफपित्तहर

अल्प मात्रा में यह रोचन दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा अधिक मात्रा में रेचन है।

5. जयपाल

लैटिन नाम– Croton tiglium
फैमिली– Euphorbiaceae
गण– चरक– विरेचन
पर्याय– द्रवन्ती, जयपाल, दन्तीबीज, जेपाल, तिन्तिडीफल
हिन्दी नाम– जमालगोटा
अंग्रेजी नाम– Purging croton
स्वरूप– इसके सदाहरित छोटे वृक्ष 15-20 फीट ऊँचे होते हैं।
रासायनिक संघटन–
Seed- B-Sitosterol
oil- Phorbol-12-tiglate-13-decanoate, Tiglyol etc.

रस– कटु — **गुण–** गुरु, रुक्ष, तीक्ष्ण
विपाक– कटु — **वीर्य–** उष्ण
कर्म– दोषकर्म– कफपित्तहर।

यह तीव्र रेचन और कृमिघ्न है। इससे आमाशय में क्षोभ होता है, पेट में मरोड़ होती है, अन्त्रकला में शोथ होता है और अधिक संख्या में पानी जैसे दस्त होते हैं।

शोधन विधि– जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भांकुर निकालकर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करें। पश्चात् गरम जल से धो लें, नींबू के रस में भावना देकर धूप में सुखा लें।

8. विरेचन पूर्वकर्म (Pre operative procedure)

पूर्व कर्म को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है।

(A) संभार संग्रह
(B) आतुर परीक्षा
(C) आतुर सिद्धता

दीपन, पाचन स्नेहपान

(A) संभार संग्रह (Collection of necessary facilities)– विरेचन के योग्य कक्ष जिसमें पानी, शौचालय आदि की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

उपकरण– विरेचन पीठ या मल पात्र (Bed Pans), मेजर ग्लास, कटोरी, भगोना, विरेचनार्थ औषध या क्वाथ, विरेचनोत्तर एवं उपद्रव निवारण औषधियाँ हो जैसे कुटजघन वटी, कर्पूर रस, जातीफलादि चूर्ण, अभ्यंग हेतु-तैल, स्नेहपान हेतु शुद्ध घृत/तैल या संस्कारित घृत, स्वेदन हेतु नाडी पेटिका स्वेदन की व्यवस्था आदि।

परिचारक- विरेचन हेतु (4) परिचारक की आवश्यकता होती है।

(B) आतुर परीक्षा (Examination of the patient)–

(i) रोगी परीक्षा– सर्वप्रथम यह निश्चय किया जाता है कि रोगी विरेचन के योग्य है या नहीं। यदि है तो देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति आदि का परीक्षण कर फिर विरेचन प्रकार का निर्धारण करते है।

(ii) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – रोगी का विरेचन कराने से पूर्व चिकित्सा की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी के साथ उपद्रव आदि की जानकारी देते है तथा उनकी लिखित में सहमति लेते हैं।

(iii) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, नाडी गति, श्वसन गति, वजन, रक्तचाप आदि का मापन सम्पूर्ण विरेचन क्रिया में कम से कम 4 बार किया जाता है (1. पूर्व कर्म, 2. प्रधान कर्म में 2 बार विरेचन योग पूर्व व पश्चात् 3. पश्चात् कर्म में)

(C) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)

(i) रोगी की तैयारी– विरेचन से पूर्व पाचन कर्म/दीपन कर्म या वमन कराना हो तो रोगी का स्नेहन, स्वेदन-वमन, संसर्जन क्रम के पश्चात् फिर पुनः नए क्रम से रोगानुसार स्नेह से स्नेहन किया जाता है।

वमन-पश्चात् संसर्जन क्रमानुसार पथ्य प्रयोग के बाद 9 वें, 10वें, 11वें, 12वें दिन स्नेहपान कराते है। अथवा वमनोत्तर या सीधे विरेचन हेतु सम्यक् स्नेहन लक्षण प्राप्त होने तक स्नेहपान कराते हैं।

9. तीन दिवसीय विश्राम काल (Managment of Three gap days and management on morning of virechana procedure)

स्नेहन् प्रस्कंद्य जंतु: त्रिरात्रेणात: पिबेत्।। (च. सू. 13/80)

सम्यक् स्नेहन होने के बाद तीन दिन विश्राम (Gap day) कराकर 4th दिन विरेचन देना चाहिए।

श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग् विरेचयेत्। (अ. ह. सू. 18/33)

विरेचन का प्रयोग प्रात:काल (10 बजे लगभग-पैत्तिक काल प्रारम्भ) खाली पेट किया जाता है।

स्नेहन् द्रवमुष्णांच त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्। (च. सू. 13/80)

रसेनैव जांगलानां: सयूषं स्निग्धं कफावृद्धिकरैर्विरिच्य:। (च. सि. 1/9)

रोगी को मानसिक दृष्टि से तैयार करना चाहिए तथा सम्पूर्ण तीन दिन (विश्राम दिवस) को भोजन में उष्ण, द्रव, स्निग्ध कफ अवृद्धिकर पदार्थों का सेवन कराकर प्रात: काल विरेचन योग दिया जाता है।

10. प्रयोज्य औषध की कल्पना (Prepation of virechana kalpa, anupana, dose and method of it's administration)-

(i) गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि। पायसं कृशरां सर्पि: काश्मर्य त्रिफला रसं। द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते। विरेचयति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन्।।

(च. सू. 13/66-68)

मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति का विरेचन गुड के शर्बत, गन्ने का रस, दूध, खीर, घी, त्रिफला, द्राक्षा, मद्य और गरम जल के पीने से ही हो जाता है।

(ii) मृदु विरेचन के योग्य रोगी-

दुर्बल: शोधित: पूर्वमल्प दोष: कृशो नर:। अपरिज्ञात कोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधं।।

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम्।। (अ. ह. सू. 18/49-50)

दुर्बल, पूर्व में शोधित, अल्पदोष, कृश और अज्ञातकोष्ठ रोगी को प्रारम्भ में मृदु और अल्पमात्रा में औषध देना चाहिए।

क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति की ग्रहणी में वात की प्रधानता होती है अत: उसे तीक्ष्ण विरेचन औषध दी जाती है।

(iii) रोगी की वेशभूषा- रोगी को विरेचन के समय न अधिक तंग न अधिक ढीले कपड़े पहनाने चाहिए। रोगी की सुविधानुसार वेश-भूषा का निर्धारण किया जाता है।

विरेचनार्थ औषध मात्रा (Dose of Virechana yog)- औषध की मात्रा और प्रकार का निर्धारण रोगी के कोष्ठ, दोष, अग्नि और प्रकृति आदि के आधार पर किया जाता है।

आचार्य शार्ङ्गधर ने मात्रा एवं दोषानुसार निम्न मात्रा निर्देशित की है।

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्। पलार्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्।।

कल्क मोदकचूर्णानां कर्षमध्वाज्यलेहत:। कर्षद्वयं पलं वापि वयो रोगाद्यपेक्षया।।

(शा. उ. ख. 4/16-17)

औषध/कल्पना	प्रधान	मध्य	हीन
विरेचन क्वाथ मात्रा	2 पल (100 ml)	1 पल (50ml)	1/2 पल (25ml)
कल्क, चूर्ण, मोदक	1 पल (48 g)	2 कर्ष (24g)	1 कर्ष (12g)
स्वरस (क्वाथ की अर्द्ध मात्रा)	1 पल (48 g)	2 कर्ष (24g)	1 कर्ष (12g)
उष्णोदक (अनुपान की तरह)	3 पल (150ml	2 पल (100ml)	1 पल (50ml)

दोषानुसार :-

पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षा क्वाथादिभि: पिबेत्। त्रिफला क्वाथ गोमूत्रै: पिबेत् व्योषं कफार्दित:।।

त्रिवृत्सैंधव शुंठीना चूर्णमम्लै: पिबेन्नर:। वातार्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन वा।।

(शा. उ. ख. अ. 4/18-19)

वात प्रधान	पित्त प्रधान	कफ प्रधान
त्रिवृत चूर्ण सुण्ठी चूर्ण सेंधा नमक जांगल रस से	त्रिवृत चूर्ण द्राक्षा क्वाथ से	त्रिकटु चूर्ण त्रिफला क्वाथ व गोमूत्र से

व्यवहारोपयोगी मात्रा :- (कोष्ठानुसार)

	औषध/कल्पना	क्रूर कोष्ठ	मध्यम कोष्ठ	मृदु कोष्ठ
1.	इच्छा भेदी रस/अन्य जमालघोटा युक्त योग/ अभयादि मोदक	500mg	250mg	125mg
2.	एरण्ड स्नेह	120ml	60ml	30ml
3.	त्रिवृत चूर्ण/सनाय योग	15g	8g	4g
4.	ईसबगोल/गुलाब पत्र	15g	8g	4g
5.	पंचसकार चूर्ण/अविपत्तिकर/ तरुणी कुसुमाकर/त्रिफला	15g	8g	4g
6.	द्राक्षा/आरग्वध क्वाथ	120ml	60ml	30ml

11. विरेचन प्रधान कर्म (Method of virechana karma and managment during virechana karma & observations)

विरेचन योग देने से लेकर जब तक विरेचन के वेग आते रहते हैं तब तक के चिकित्सकीय कार्य प्रधान कर्म में आते हैं।

(i) विरेचनौषधि प्रयोग (ii) रोगी निरीक्षण (iii) वेग निर्णय

(iv) सम्यक्, हीन, अतियोग विश्लेषण (v) उपद्रवों का शमन

(i) विरेचनौषधि प्रयोग-रोगी का आसन पूर्वाभिमुख रखते हैं तथा रोगी को मानसिक दृष्टि से तैयार करके विरेचन योग दिया जाता है। विरेचन योग रोगी के क्रूर, मध्य, मृदु कोष्ठ के अनुसार दिया जाता है। विरेचन योग की मात्रा एवं तापक्रमादि मान (Vital recording) को विरेचन विवरण पत्रक पर अंकित करते है।

(ii) रोगी निरीक्षण (Observation of the patient) - (अ) विरेचन औषध पिलाने के बाद रोगी की स्थिति पर नजर रखी जाती है। कभी-कभी औषध के स्वादु न होने से उसकी गंध से ही वमन हो जाता है अत: चमेली, जूही आदि सुगंधित फूलों की माला रोगी को पहना दी जाती है। अथवा इत्र आदि लगा दिया जाता है।

(ब) रोगी को निवात स्थान में रखना चाहिए। तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा गरम पानी पिलाया जाता है। परन्तु यदि जयपाल (जमालघोटा) का योग दिया हो तो उष्ण जल के स्थान पर ठण्डा जल पिलाना चाहिए। (इच्छाभेदी, नाराच रस, जलोदरारि रस आदि देने पर)

ऊर्ध्वं कफानुगो पित्ते विट्पित्तेऽनुकफेत्वध:।

हृतदोषं वदेत्कार्श्य दौर्बल्ये चेत् सलाघवे।। (च. सि. 6/20)

(स) समुचित विरेचन होने पर पहले मल→पित्त→कफ निकलता है तथा शरीर में कृशता, दौर्बल्य और लघुता होती है।

(द) यदि विरेचन औषध पच जाए और विरेचन न हो तो उस दिन रोगी को भोजन करा पुन: दूसरे दिन विरेचनार्थ औषध देनी चाहिए।

(य) यदि फिर भी विरेचन न हो तो 10 दिन के पश्चात् पुन: स्नेहन-स्वेदन कराकर विरेचन हेतु पहले से अधिक तीव्र औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(iii) वेग निर्णय (Assessment of vega)-

(अ) विरेचन योग पिलाने के बाद मल से युक्त पहले जो 2-3 वेग आते हैं उन्हें छोड़कर वेगों को गिनना चाहिए।

(ब) विरेचन में प्रवर, मध्य और अवर शुद्धि का निर्णय वेगों की संख्या, विसृष्ट मल का वजन और लक्षणों के आधार पर किया जाता है।

शुद्धि सारणी

शुद्धि	प्रवर	मध्य	अवर
वैगिकी	30	20	10
मानिकी	4 प्रस्थ	3 प्रस्थ	2 प्रस्थ
आंतिकी	कफांत	कफांत	कफांत
लैंगिकी	सम्यक् विरेचन लक्षण	सम्यक् विरेचन लक्षण	सम्यक् विरेचन लक्षण

- प्रवर शुद्धि में 30 वेग, 4 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन।
- मध्य शुद्धि में 20 वेग 3 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन।
- अवर शुद्धि में 10 वेग 2 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन - लक्षण मिलते हैं।

12. सम्यक् योग, अयोग व अतियोग लक्षण (Symptoms of samyok yog, Ayoga and Atiyoga of Virechana Karma)

विरेचन सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण - विरेचन कर्म के पश्चात् उत्पन्न लक्षणों को ध्यान से देखा जाता है हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुन: विरेचन औषध दिया जाता है अतियोग होने की स्थिति में विरेचन क्रिया को रोक कर, अतियोग की चिकित्सा कर, रोगी को विश्राम करवाया जाता है तथा सम्यक् योग के लक्षण होने पर आगे की प्रक्रिया (बस्ति/नस्य/शमन/रसायन-वाजीकरण प्रयोग) की जाती है।

(अ) विरेचन के सम्यक् योग के लक्षण (Features of adequate Virechana)-

प्रवर शुद्धि होने पर विरेचन के 30 वेग होते है। अन्त में कफ आता है।

सम्यक् योग के लक्षण निम्न है-

स्त्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।

प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।। (च. सि. 1/17)

1. स्त्रोतों विशुद्धि 2. इन्द्रिय प्रसाद 3. शरीर में लघुता एवं उत्साह

4. अग्निदीप्ति 5. अनामयत्व 6. क्रमश: विट्, पित्त, कफ, वात का नि:सरण

7. वातानुलोमन

(ब) विरेचन के हीन योग के लक्षण (Features of inadequte Virechana) -

वे लक्षण निम्न है-

स्यात्श्लेष्मपित्तानिल संप्रकोप: सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्याय। तंद्रा तथा छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते। (च. सि. 1/18)

1. कफ प्रकोप 2. पित्त प्रकोप 3. वात प्रकोप 4. अग्निमांद्य

5. गौरव 6. प्रतिश्याय 7. तंद्रा 8. छर्दि

9. अरुचि 10. वातप्रतिलोमता (1 से 10 चरकानुसार है) 11. दाह

12. हृदय अशुद्धि 13. कुक्षि अशुद्धि 14. कण्डू 15. पिडिका

16. विड्संग 17. मूत्रसंग

(स) विरेचन के अतियोग के लक्षण (Features of excessive Virechana)-

(स) विरेचन के अतियोग के लक्षण भी विरेचन अतियोग लक्षण समान है (चरकानुसार) वे निम्नलिखित है-निरूह बस्ति अति योग के लक्षण भी विरेचन अतियोग लक्षण समान है

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्था: सुप्त्यङ्गमर्द क्लमवेपनाद्या:।

निद्रा बलाभावतम: प्रवेशा: सोन्माद हिक्काश्च विरेचितेऽति।। (च. सि. 1/19)

मूर्च्छा गुदभ्रंश कफातियोगा: शूलोद्गमश्चाति विरिक्त लिंगम्। (सु. चि. 33/24)

1. कफक्षयज विकार 2. रक्तक्षयज विकार

3. वातक्षयज विकार 4. सुप्ति (शरीर में शून्यता)

5. अंगमर्द 6. क्लम

7. वेपथु (कम्प) 8. निद्रा नाश

9. बलाभाव 10. तम:प्रवेश (आँखों के सामने अंधेरा छाना)

11. उन्माद 12. हिक्का (1 से 12 तक चरकानुसार है)

13. मूर्च्छा 14. गुदभ्रंश

15. शूल 16. कफ पित्त रहित श्वेत जल का निकलना

17. कफ पित्त रहित लोहित जल का निकलना 18. मांसधोवन तुल्य जल निकलना

19. तृष्णा 20. भ्रम

21. नेत्र का अन्त: प्रवेश 22. अति वमन के लक्षणों जैसे लक्षणों का उत्पन्न होना

13. विरेचन पश्चात् कर्म (Paschat Karma/Post virechana karma) :-

विरेचन के वेग समाप्त हो जाने के बाद से प्राकृत भोजन कराने के समय के बीच में जो कर्म किए जाते हैं वे पश्चात् कर्म की श्रेणी में आते है। ये निम्न हैं-

(i) संसर्जन क्रम (ii) तर्पण औषध (iii) संयम-नियम (iv) विरेचनोत्तर कर्म

वमन कर्म के अन्तर्गत जो पश्चात् कर्म का वर्णन है वही विरेचन कर्म का भी है अंतर केवल धूमपान का है अर्थात् विरेचन के पश्चात् धूमपान नहीं कराया जाता शेष वमनवत् है।

1. संसर्जन क्रम (According to shudhi Samsarjana krama)

विरेचन कर्म के पश्चात् जठराग्नि न्यूनतम हो जाती है इस अग्नि की रक्षा करते हुए लघु आहार की योजना की जाती है। उसे संसर्जन क्रम कहा जाता है।

प्रवर शुद्धि में संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	प्रवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रात: सांय	X 1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रात: सांय	2. पेया 3. पेया
तृतीय दिवस	प्रात: सांय	4. विलेपी 5. विलेपी
चतुर्थ दिवस	प्रात: सांय	6. विलेपी 7. अकृत यूष
पंचम दिवस	प्रात: सांय	8. कृत यूष 9. कृत यूष
षष्ठ दिवस	प्रात: सांय	10. अकृत मांसरस 11. कृत मांसरस
सप्तम दिवस	प्रात: सांय	12. कृत मांसरस सामान्य आहार

प्रवर शुद्धि-

कुल अन्न काल	-	12
दिवस	-	7 दिन

मध्यम शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	मध्यम शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रात: सांय	X 1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रात: सांय	2. पेया 3. विलेपी

तृतीय दिवस	प्रातः	4. विलेपी
	सांय	5. अकृत यूष
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. कृत यूष
	सांय	7. अकृत मांसरस
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार

कुल अन्नकाल – 8

अवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	अवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	X
	सांय	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. विलेपी
	सांय	3. कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	4. कृताकृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार

कुल अन्नकाल – 4

2. तर्पण औषध– रोगी की निर्बलता एवं दोष आदि का विचार कर संसर्जन क्रम के स्थान पर संतर्पण क्रम को अपनाया जा सकता है।

जैसे– मुनक्का, वृक्षाम्ल, इमली, अनारदाना, आनार, फालसा और आंवला इनके रस में घुला हुआ मध तर्पण है और मदिरा के विकार का नाश करता है।

3. संयम–नियम (परिहार्य विषय) – विरेचन कर्म के पश्चात् रोगी को निम्न कार्यों की उपेक्षा करनी चाहिए।

1. अधिक चलना
2. अधिक देर तक बैठना
3. अधिक देर तक खड़े रहना
4. उच्च स्वर में बोलना
5. वेग विधारण करना
6. अधिक बोलना, उच्च स्वर में बोलना
7. दिवाशयन करना
8. रात्रि जागरण करना
9. व्यवाय करना
10. अधिक शीत, धूप का सेवन करना
11. विरुद्ध आहार करना

4. विरेचनोत्तर कर्म–

(i) यदि विरेचन पश्चात् कोई शोधन कर्म नहीं करना हो तो संसर्जन क्रम पश्चात् शमन चिकित्सा /रसायन/ वाजीकरण चिकित्सा करनी चाहिए।

संसृष्ट भक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेद्वाप्यनुवासयेद्वा।
तैलाक्त गात्राय ततो निरूहं दद्यात् त्र्याहनाति बुभुक्षिताय॥ (च. सि. 1/20)

(ii) यदि विरेचन पश्चात् रोगी को बस्ति देनी हो तो 9वें दिन पहले अनुवासन बस्ति देना चाहिए फिर तीन दिन पश्चात् अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को निरूह बस्ति देनी चाहिए।

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्योनिरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्रात् विरेचितः॥ (सु. चि. 36/52)
नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्त दिनान्यवश्यम्।
शुद्धो निरूहेण विरेचनं च तद्धयस्य शून्यं विकसेच्छरीरम्॥ (च. सि. 1/26)

विरेचन के सात दिन पश्चात् ही निरूह बस्ति देनी चाहिए क्योंकि विरेचन से कोष्ठ रिक्त रहता है यदि इस स्थिति में निरूह बस्ति दी जाती है तो वह शरीर को नष्ट कर देता है।

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत्।
धूम वर्ज्येन विधिना, ततो वमितवानिव।
क्रमेणान्नानि भुंजानो भजेत्प्रकृति भोजनम्॥ (अ. ह. सू. 18/42-43)

वमन कर्म पश्चात् धूमपान करवाया जाता है परन्तु विरेचन के पश्चात् धूमपान नहीं करवाते है।

(14) विरेचन के उपद्रव व चिकित्सा (Complications of Virechana & Their management)–

आचार्य चरकानुसार परिचारक की असावधानी, औषध की गुणहीनता, रोगी के प्रमाद अथवा चिकित्सक की भूल से विरेचन का अयोग या अतियोग होता है उसके कारण 10 प्रकार के उपद्रव होते है जो निम्न है–

1. आध्मान ⎤
2. परिस्राव ⎥— अयोग
3. हृद्ग्रह ⎥
4. अङ्गग्रह ⎦
5. विभ्रंश — अतियोग के कारण
6. स्तम्भ ⎤
7. उपद्रव ⎥— अयोग
8. क्लम ⎦
9. परिकर्तिका ⎤— अतियोग
10. जीवादान ⎦

परिकर्तिका, जीवादान तथा विभ्रंश जैसे गुदभ्रंश ये लक्षण अतियोग के कारण होते है। शेष अयोग लक्षण है। आचार्य सुश्रुत ने विरेचन के 15 व्यापद् बताए है जिन्हें आचार्य चरक के 10 लक्षणों में समाहित किया जा सकता है। आचार्य चरक व सुश्रुत ने वमन व विरेचन के उपद्रव समान बताए है।

उपद्रवों की चिकित्सा (Treatment of complications)–

1. **आध्मान**– (i) यह होने पर अभ्यंग, स्वेदन, गुदवर्ति, निरूह, अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

(ii) हिंग्वष्टक पाचन चूर्ण, हिंग्वादि वटी चूर्णार्थ हेतु देते है।

2. **परिकर्तिका** – यह उपद्रव होने पर उदुम्बरत्वक् क्वाथ ½ लीटर में 100 ml तिल तैल मिलाकर पिच्छा बस्ति देनी चाहिए।

3. **परिस्राव**– अल्पदोष में कुटजघन वटी, शंखोदर रस, नागकेसर चूर्ण आदि का प्रयोग करते हैं।

अधिक दोष उर्ध्वगामी हो तो वमन कराएं तथा अधिक दोष, अधोगामी हो तो विरेचन तथा ग्रहणीरोगाधिकार में बताए गए आसव, चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

4. **हृद्ग्रह**– दोषों की उर्ध्वगति होने पर आमाशय के उर्ध्वभाग में स्तब्धता होने से हृदय प्रदेश में जकड़न की प्रतीति होती है इस स्थिति में वमन करवाना चाहिए। तथा दीपन पाचन और वातानुलोमन उपचार करते है एवं मूर्च्छा होने पर नस्य देते है।

5. **अंगग्रह**– सम्पूर्ण शरीर का तैलाभ्यंग व स्वेदन करना चाहिए। तथा वातनाशक उपचार करते है।

6. **जीवादान**– शुद्ध रक्त निकलने को जीवादान कहा जाता है। इस प्रकार की स्थिति होने पर न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में घृत मिलाकर पिच्छाबस्ति देनी चाहिए। तथा शीतल जल से परिषेक करते हैं या रक्त शोधक चिकित्सा करते हैं।

7. **विभ्रंश**– यह तीन प्रकार का होता है–

(अ) गुद भ्रंश (ब) संज्ञाभ्रंश (स) कण्डु, पिडिका आदि का होना

(अ) गुदभ्रंश–वट, गूलर, बेर, चमेली, लोध्र पत्ते के क्वाथ में फिटकरी का चूर्ण मिलाकर गुदा में पिचु धारण करवाये। जात्यादि तैल लगाकर गुदा को अन्तः प्रविष्ट करवायें।

(ब) संज्ञाभ्रंश– मन की प्रसन्नता हेतु मधुर संगीत, इत्र, सुगन्धित पुष्पमाला धारण, शीतल तेल आदि का लेप करना चाहिए।

(स) कण्डू–पिडिका आदि भ्रंश में– स्नेहन, स्वेदन कराकर तीक्ष्ण शोधन करना चाहिए।

8. **स्तम्भ**– लंघन, पाचन, तीक्ष्ण विरेचन, बस्ति चिकित्सा करनी चाहिए।

9. **उपद्रव**– स्नेहन, स्वेदन, वातनाशक उपचार करना चाहिए।

10. **क्लम**– लंघन, पाचन, स्वेदन, तीक्ष्ण शोधन चिकित्सा करनी चाहिए।

15. विरेचक की कार्मुकता (Mode of Action)

विरेचक औषधि

(उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण युक्त)

↓

स्ववीर्य से हृदय में प्रवेश

↓

धमनियों का अनुसरण कर स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश

↓

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले दोष–समूह पर क्रिया

उष्ण गुण से – विष्यन्दन

तीक्ष्ण गुण से – विच्छिन्दन

अणु प्रवण भाव से– **अणुत्वं च अणुमार्ग संचारित्वम्**
प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्

↓

आमाशय में प्रवेश

↓

अधः प्रवृत्ति

(जल व पृथ्वी महाभूत की प्रधानता तथा अधोभागहर प्रभाव के कारण)

↓
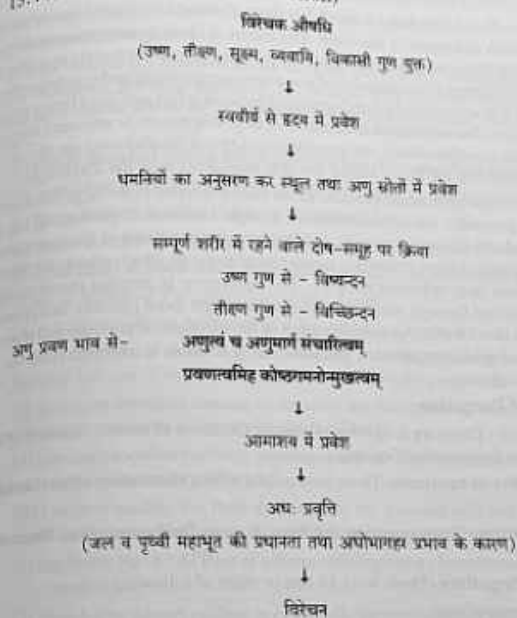
विरेचन

आचार्यों ने विरेचक औषधियों के प्रभाव/कार्मुकत्व के सन्दर्भ में निम्न दृष्टान्त दिये है–

चरकानुसार – चरक ने अग्निगृह का दृष्टान्त देकर कहा है कि अग्नि को शांत करने से जैसे अग्निगृह शान्त होता है, वैसे ही आमाशय में प्रविष्ट विरेचन द्वारा पित्तमूल का शोधन होने से सभी पित्तों का शोधन होकर पित्तज व्याधियाँ शांत होती है।

सुश्रुतानुसार– सुश्रुत ने दृष्टान्त दिया है कि जैसे जल को निकाल देने पर जल के आश्रय से रहने वाले शैवालादि वनस्पतियां, मछलियाँ आदि जलचर प्राणियों का नाश होता है वैसे ही पित्त को दूर करने से पित्तज रोग नष्ट होते है।

अतः विरेचन का कार्य सार्वदैहिक है। वह केवल आमाशय, पक्वाशय के ही दोषों को नहीं निकालता है अपितु सम्पूर्ण शरीर के दोषों को निकालता है।

Physiology of Virechana/Purgation

The process of Virechana is regulated and controlled by a special centre thatis situated near Medulla oblongata in the brain. This centre is close to respiratory and vomiting centre. When the Virechana drugs stimulate the purgation centre, indirectly vomiting centre is relaxed. Sacral plexus of the spinal cord also helps in controlling and regulating the act of purgation, and it is also controlled and regulated by local reflex actions. Hence, during the act of defaecation, the respiration is arrested shortly; diaphragm is activated and presses transverse colon. Simultaneously, the accessory muscles of the abdomen are also activated and helps in propelling the faecal matter towards anus along with the diaphragm.

The increased hydrostatic pressure of the matter reached to the large intestine along with the mass peristaltic movements induces a slight mechanical pressure in the sacral plexus (2nd, 3rd and 4th sacral nerves) and lumber nerves situated at the lower levels of spinal cord. Because of these irritations, motor reaction occurs which relaxes the illiosacral valve muscles and anal sphincter muscles. The respiration is arrested momentarily and diaphram is activated through motor response and it exerts more pressure and presses the transverse colon downwards. As a combination of the mechanical pressure and associated relexation of anal sphincter muscles, the material as a whole is expelled from the body downwards through anus.

Types of Purgation

Laxatives: - These are drugs that promote evacuation of bowels. According to the intensity of action they are classfied into,

(1) Laxative or aperients- These have milder action elimination of soft but formed stool.

(2) Purgative:- Stronger action resulting in more fluid evacuation. These are of following types.

(i) **Bulk Purgatives** -These work by one or more of following actions.

(a) Non-metabolising

(b) Retaining water

(c) Promoting peristalsis

These drugs increase the total bulk of the faecal matter, e.g. high fiber diet, Staculim cellulose diet, Isabgol, yava.

(ii) Lubricant Purgatives :- The drugs which lubricate intestine and faecal matter, e.g. liquid paraffin, dioctyl sodium sulpho-succinate.

(iii) Irritant or Stimulant Purgatives

These drugs increases the peristalsis by irritation of nerve endings of intestine, e.g.- phenolphthalein, castor oil, mercury, sulphur.

(a) Stimulate the mucosa of gut

(b) Irritate local reflexes e.g. Castor oil hydrolysed in small intestine by lipase to give ricinoleic acid which is irritant. It requires bile for hydrolysis.

(iv) Osmotic Purgatives

Solutes that are not absorbed in the intestine retain water osmotically and distend the bowel increasing peristalis indirectly. All organic salts are used as osmotic (saline) purgatives have similar action. eg. Magnesium sulfate and hydroxide, sodium sulfate and phosphate.

(a) Poorly absorbed solutes which maintain and increased fluid volume.

(b) Accelerate transfer to gut contents through small intestine to colon.

(c) Large volume in colon results in purgation.

(d) Saline purgatives - example. MgSO4 doubles the volume of faeces.

Many of drugs in small doses act as laxative and in larger doses as purgatives

Mode of Action of Purgative/Virechana drugs

(A) All the purgatives increase the water content of faeces by

(1) A hydrophilic or osmotic action, retaining water and electrolytes in the intestinal lumen- increase volume of colonic content and make it easily propelled.

(2) Acting on intestinal mucosa to decrease net absorption of water and electrolyte, intestinal transit is enhanced indirectly by the fluid bulk.

(3) Increase propulisve activity as primary action- allowing less time for absorption of salt and water as a secondary effect.

(B) Laxative modity the fluid dynamics of the mucosal cell and may cause fluid accumulation in gut lumen by one or more of following mechanisms-

(1) Inhibiting $Na^+ K^+$ ATPase of villous cells impairng electrolyte and water absorption.

(2) stimulating adenyl cyclase in crypt cells increasing water and electrolyte secretion.

(3) Enhancing PG synthesis which increases secretion.

(4) Structural injury to the absorbing intesinal mucosal cells.

The irritat action of the drug causes inflammation in the small and large intestine due to this and the mucosa is extensively irritated, secretion rate is enhanced and motility of the intestinal wall usually increase. As a result, large quantities of fluid are propelled by propulsive movements resulting in formation of loose stools.

(C) Action on Nerves- Here the defecation centre is irritated in medualla oblongata. The vagus nerve stimulates pancreas, liver to produce secretions. Bile is secreted due to contraction of gall bladder and also due to irritant vagal stimulation. Burnner's glands are stimulated which secretes mucus. Due to increased peristalsis, sacral and lumber plexus are